

## ◆ चतुर्थ अध्याय ◆

### प्रबन्धन विविध आयाम

#### विषयावतरण

---

---

- सामाजिक प्रबन्धन
    - वर्ण प्रबन्धन
    - आश्रम प्रबन्धन
  - शिक्षा कला संस्कृति प्रबन्धन
    - शिक्षा
    - कला
    - संस्कृति
- 
-

## ◆ चतुर्थ अध्याय ◆

### प्रबन्धन विविध आयाम

#### सामाजिक प्रबन्धन

संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य को ही बुद्धि, ज्ञान, सम्भाषण, तर्कशक्ति तथा भावनात्मक व्यवहार इत्यादि मानवीय गुणों का अमूल्य उपहार ईश्वर द्वारा प्रदान किया गया है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। यह तथ्य सर्वविदित है। यूनानी दार्शनिक अरस्तु ने भी कहा है कि मनुष्य समाज के बिना नहीं रह सकता, जो व्यक्ति समाज के बिना रहता है वह या तो पशु है या देवता। समाज का अर्थ किसी जाति विशेष के रूप में लेना संकीर्णता है। व्यापक अर्थ में समाज व्यक्तियों का एक विशाल समूह है जिसकी आवश्यकता मनुष्य को अपने जीवन की प्रायः सभी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होती है। किसी भी सामाजिक प्रबन्धन की सफलता उस समाज के प्रत्येक सदस्य के पारस्परिक सहयोग पर ही निर्भर करती है। सम्भवतः यही वैदिककालीन ऋषियों का चिन्तन रहा होगा, भौगोलिक अथवा जातिगत आधार पर राष्ट्र अथवा समाज में विभाजन की अपेक्षा तत्कालीन आर्यों ने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की अवधारणा को अपना ध्येय वाक्य बनाया।

वैदिक वाङ्मय में सर्वत्र पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, सामन्जस्य व सहयोग की ही ध्वनि गुंजित होती है। सुसंस्कृत व्यवहार तथा परिष्कृत नैतिक आचरण ही वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन की आधारशिला है। तत्कालीन सामाजिक जीवन वर्तमान सामाजिक जीवन से प्रायः भिन्न ही था। वैदिक संस्कृति में सदाचार, सद्विचार, सद्वृत्ति इत्यादि सद्गुणों को पूर्ण पोषण प्राप्त था। अस्तु यह कहना कि वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन व्यवस्था वर्तमान जीवन में सफलता की सिद्धि के लिए आवश्यक है, सर्वथा तर्कसंगत है।

मनुष्य को समाजरूपी संस्था के निर्माण की आवश्यकता सम्भवतः स्वयं की भौतिक एवम् आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु ही अनुभव हुई होगी। परस्पर मैत्री पूर्ण सम्बन्धों द्वारा ही एक स्वस्थ समाज का निर्माण हो सकता है, समाज में ही व्यक्ति को अपने सर्वांगीण विकास के लिए पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। एक विशाल जनसमूह जिसके सदस्य के रूप में व्यक्ति के व्यक्तिगत उद्देश्यों में वैभिन्न होने पर भी समस्त सामाजिक उद्देश्यों में एकता व समाज के हितों को केन्द्र में रखकर ही समाज के प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक जीवन श्रेष्ठता को प्राप्त कर सकता है।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः

ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्रायचार्याय च स्वाय

चारणाय च प्रियो देवानाम् दक्षिणायै

दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृद्धयतामुप मादो नमतु।<sup>142</sup>

अर्थात् जिस प्रकार मैं इस कल्याणी वाणी का उच्चारण करता हूँ—ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र, वैश्य तथा अपने भक्त के लिए दक्षिणा का देने वाला मैं देवों का प्रिय होऊँ। मेरा मनोरथ अभिवृद्ध होवे।

शुक्ल यजुर्वेद का यह मन्त्र समष्टिगत कल्याण की ही बात करता है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक उत्थान के लिए बाधा नहीं अपितु एक सुनियोजित मार्ग था। उपर्युक्त शुक्ल यजुर्वेदीय मंत्र पर प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ का भाष्य इस प्रकार है—

इमां कल्याणीमुद्देगकारी वाचमहं यथायतः आवदानि सर्वतो ब्रवीमि दीयतां भुज्यतामिति

सर्वेभ्यो वच्मि। केभ्यरतदाह। ब्राह्मणराजन्याभ्यां ब्राह्मणाय राजन्याय क्षत्रियाय च

शूद्राय अर्याय वैश्याय स्वायात्मीयाय अरणाय पराय। अरणोऽपगतोदकः शत्रुः नास्ति

रणः शब्दोयेन सह, वाक् सम्बन्धरहितः शत्रुरितिवा। प्रियो देवानां

<sup>142</sup> शु.यजु. 26.2

मध्येऽवसानरहितानुष्टुप् लौगाक्षिदृष्टा । यथेति पूर्वोक्तेरत्र तथा शब्दोऽध्याहार्यः । यतोऽहं  
ब्राह्मणादिभ्यः कल्याणी वाचं वदामि तथा ततोऽहं देवानां प्रियः भूयसम् ।  
इहं संसारे दक्षिणायै दक्षिणायाः दातुश्च प्रियः भूयसम् । देवा दक्षिणादातारश्च मयि  
प्रीतिं कुर्वन्त्वित्यर्थः किंच मे ममायं कामः समृज्यतां सफलो भवतु । अयमिति  
नामनिर्देशः । धन पुत्रादिलाभकामो मे संपद्यतामित्यर्थः किंच आदो मा मामुपनमतु । अद  
इति इष्टनामग्रहणं । देवदत्तादिर्मा प्रीणयतु ।।

ईश्वर प्रदत्त प्रायः समस्त स्वाभाविक शक्तियों का विकास एवम् सन्तुष्टि समाज में रहकर ही  
सम्भव है । प्रथमदृष्ट्या किसी भी समाज की व्यवस्था समाजजनों के परस्पर स्नेह, विकास, चिन्तन  
शैली, साक्षरता, नारी जाति के प्रति सम्मान तथा समाज के प्रत्येक व्यक्ति द्वारा स्वकर्तव्य पालन पर  
ही निर्भर होती है ।

वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन व्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था (वर्ण व्यवस्था व्यक्ति  
के धर्म अथवा वंश परम्परा के आधार पर नहीं अपितु कार्यविधि के अनुसार थी) षोडश संस्कार  
परिवार व्यवस्था, समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के कर्तव्यों एवम् अधिकारों का विस्तृत वर्णन  
परिलक्षित होता है तथा उनकी मूल अवधारणाएँ एवम् उद्देश्य वर्तमान काल में भी प्रासङ्गिक है और  
यही कारण है कि सहस्रों वर्ष पर्यन्त भी वैदिक वाङ्मय का अस्तित्व अक्षुण्ण है ।

वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन को निम्न मुख्य आधारों पर विश्लेषित किया जा सकता है—

वैदिक कालीन वर्णाश्रम धर्म एक ऐसी प्रभावशाली व्यवस्था है जो व्यक्ति व समाज के मध्य  
सम्बन्धों को पोषित, रक्षित व प्रगाढ़ करती है ।

प्राचीन भारतीय सामाजिक प्रबन्धन की सर्वप्रमुख विशेषता **वर्ण व्यवस्था** है जो जन्म पर  
आधारित नहीं थी, अपितु योग्यता, रुचि, कार्यक्षमता व कार्य विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित थी ।

वर्ण प्रबन्धन को मस्तिष्क की क्रियाओं से भी संयुक्त किया गया है, यथा तामसिक, राजस, व सात्विक गुणों को वर्ण विशेष के माध्यम से मुख्य व्यवसाय, आन्तरिक रुचियों, वास्तविक अभिरुचियों, व्यक्ति की मूल क्षमताओं, कार्य की प्रगति, नैतिक व उचित अभिलाषाओं का निर्धारण करने का प्रयास किया गया है।

व्यक्ति जो भी कार्य करे उसे स्वधर्म के माध्यम से पूर्ण सन्तोष समर्पण एवम् प्रसन्नता के साथ सम्पन्न करने की शिक्षा वेदों में प्रदान की गई है। व्यक्ति की क्षमताओं का उसकी दुर्बलताओं का उपयुक्त निर्धारण भी प्राचीन भारतीय सामाजिक प्रबन्धन में वर्ण व्यवस्था के माध्यम से किया गया है, वर्तमान संदर्भों एवम् गतिशील वातावरण में इस वैदिक वर्ण विभाजन को अर्वाचीन सिद्धान्तों अवधारणाओं एवम् प्रशिक्षणों के माध्यम से और भी प्रभावी बनाया जा सकता है।

श्रम विभाजन के माध्यम से एक कठिन कार्य को विभिन्न अवयवों में विच्छेदित करने की वर्ण विभाजन की अवधारणा वर्तमान में भी प्रासंगिक है। इसके माध्यम से निश्चित व्यक्ति/व्यक्तियों के सीमित कार्य/कार्यों के प्रति उत्तरदायित्व निर्धारित किया जाता है, जिससे विशिष्टता को प्रोत्साहन मिलता है, एवम् व्यक्ति कार्य विशेष में दक्षता अर्जित करता है तथा तत् तत् विषय विशेषज्ञ बनने की सम्भावना में वृद्धि होती है।

वेदों में स्पष्ट रूप से वर्णित है कि व्यक्ति तथा उनके व्यक्तित्व प्रायः भिन्न ही होते हैं, उनकी बुद्धि, चिन्तनशैली तथा कार्य क्षमता भिन्न होती है—

**समौ चिद्ध स्तौ न समं विविष्टः संमातरा चिन्न समे दुहाते।**

**यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित् सन्तौ न समंपृणीतः।।**

अर्थात् हमारे दोनों हाथ एक समान रूपवाले हैं, तो भी एक समान कार्य करने की शक्ति नहीं धारण करते एक समान दो गौ माताएँ, एक समान दूध नहीं देती, दो जुड़वां भाई होने पर भी उनका बल एक समान नहीं होता। एक वंश—कुल की सन्तान होकर भी दोनों एक समान दाता नहीं होते।

इस कार्यक्षमता के वैज्ञानिक विश्लेषण के आधार पर ही सम्भवतः वैदिक सामाजिक प्रबन्धन की नींव रखी गई होगी।

गुण तथा कर्मों के आधार पर चार वर्णों का प्रावधान था तथा सभी को ब्रह्मा की सन्तान कहा गया—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत् ॥<sup>143</sup>

अर्थात् परमपुरुष ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, भुजा से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए इस प्रकार सब एक ही पिता की संतान हैं।

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्ष अदितिर्माता

स पिता स पुत्रः।

विश्वेदेवा अदितिः पञ्चजना

अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥<sup>144</sup>

अदिति ही द्यौ है, अदिति ही अन्तरिक्ष है, अदिति ही माता है, वही पिता है तथा वही पुत्र है। अदिति विश्वेदेवा है। अदिति पंचमानव है। किम्बहुना, अदिति ही उत्पन्न सब कुछ है और अदिति ही प्रजननशक्ति है।

इस प्रकार समस्त मानव जाति एक ही ईश्वर की सन्तान है। अदिति को इस सम्पूर्ण चराचर जगत् के हेतु रूप में वर्णित किया गया है।

यह विभाजन कर्मगत सिद्धान्त पर आधारित था। सम्पूर्ण मानव समाज को एक विराट् पुरुष मानकर ही सम्भवतः यह विभाजन किया गया है। यहाँ शूद्र की उत्पत्ति चरणों से बता कर निम्न बौद्धिक व शारीरिक क्षमता वाले व्यक्तियों को निकृष्ट न बताकर उनका समाज में महत्त्व प्रतिपादित

<sup>143</sup> ऋग्वेद, पुरुषसूक्त

<sup>144</sup> शु.यजु. 25'23

किया गया है। जिस प्रकार शरीर का आधार चरण होते हैं। उसी प्रकार समाज पैरों के अभाव में सुचारु रूप से गमन नहीं कर सकता, अर्थात् प्रत्येक वर्ण का समाज में अपना स्थान महत्त्वपूर्ण होता है।

सामाजिक प्रबन्धन को सुचारु रूप से गतिमान रखने के लिए ही वर्ण व्यवस्था का प्रावधान किया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति को बिना किसी कठिनाई अथवा तनाव के अपनी प्रकृति के अनुसार व्यवसाय चयन की स्वतन्त्रता प्राप्त थी।

समाज में विभिन्न शारीरिक तथा बौद्धिक क्षमताओं के व्यक्ति होते हैं तथा सामाजिक प्रबन्धन में सभी की उपयोगिता होती है। किसी भी कार्य को हेय न मानकर अपनी क्षमता के अनुसार दत्तचित्त होकर कार्य को सम्पादित करने का ही वेदोक्त विधान है। शुक्ल यजुर्वेद में की गई रुद्र प्रार्थना में भी सभी के दीर्घ जीवन की प्रार्थना की गई है तथा किसी को भी अकाल मृत्यु न प्राप्त हो यह निवेदन है।

नमस्त आयुधायानातताय धष्णवे ।

उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने ॥

मानो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न

उक्षन्तमुत मा न उक्षितम ।

मा नो वधीः पितरं मोत मातरं मा नः

प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः ॥

मा नास्तोके तनये मा न आयुषि

मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः

मा नो वीरान् रुद्र भामिनो वधीर्हविष्मन्तः

सदमित्त्वा हवामहे ।<sup>145</sup>

श्रीमद्भगवत् गीता में भी वेदोक्त निर्देशों की स्पष्ट व्याख्या करते हुए वर्ण व्यवस्था का वर्णन किया गया है ।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।  
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः ॥  
शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च ।  
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥  
शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम् ।  
दानमीरवरभावश्च क्षात्रं कर्म स्वभावजम् ॥  
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम् ।  
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥  
स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।  
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विदन्ति तच्छृणु ॥  
यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।  
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥  
श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।  
स्वभावानियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम् ॥<sup>146</sup>

तालिका<sup>147</sup>

वर्ण	कार्यक्षेत्र
ब्राह्मण	नियोजन, परामर्श सेवाएँ
क्षत्रिय	सुप्रशासन, नियमन

<sup>145</sup> शु.यजु. 16.14-15-16

<sup>146</sup> श्रीमद्भगवत्गीता, 18.41-47

<sup>147</sup> स्रोत— साहित्य विश्लेषण, जर्नल्स एवम् संङ्गणक के आधार पर संकलित एवं विकसित



वैश्य	व्यापार, वाणिज्य
शूद्र	सेवा क्षेत्र, शारीरिक श्रम

श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे परन्तप! ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों तथा शूद्रों में उनके स्वभाव, गुणों तथा कार्य क्षमताओं के द्वारा ही भेद किया जाता है।

वैदिक साहित्य के अन्त उपनिषदों में स्पष्ट है कि विद्वान ऋषि जन्मना ब्राह्मण हो यह आवश्यक नहीं अपितु ब्राह्मणेतर भी हो सकते थे। दार्शनिक चिन्तन में ब्रह्मविद्या के सामाजिक दायित्व और उनके जिज्ञासु के लिए कतिपय कथाएँ प्राप्त होती हैं— जो सामाजिक प्रबन्धन के महत्त्वपूर्ण परिदृश्य को रेखांकित करती हैं—

सत्यकामो ह जाबालो जबालां मातरमामन्त्रयांचक्रे

ब्रह्मचर्यं भवति विवत्स्यामि किंगोत्रोऽहमस्मीति ॥1॥

सा हैनमुवाच नाहमेतद्वेद तात यद्गोत्रस्त्वमसि बह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने  
त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो नाम  
त्वमसि स सत्यकाम एवं जाबालो ब्रुवीथा इति ॥2॥

सह हारिद्रुमतं गौतममेत्योवाच ब्रह्मचर्यं

भगवति वत्स्याम्युपेयां भगवन्तमिति ॥3॥

तँ, होवाच किंगोत्रो नु सोम्यासीति स होवाच नाहमेतद्वेद भो

यद्गोत्रोऽहमस्म्यपृच्छं मातरँ, सा मा प्रत्यब्रवीद्वह्वहं चरन्ती परिचारिणी यौवने  
त्वामलभे साहमेतन्न वेद यद्गोत्रस्त्वमसि जबाला तु नामाहमस्मि सत्यकामो  
नाम त्वमसीति सोऽहँ, सत्यकामो जाबालोऽस्मि भो इति ॥4॥

तँ, होवाच नैतद्रब्राह्मणों वित्रक्तुमर्हति समिधँ, सोम्याहरोप

त्वा नेष्ये न सत्यादगा इति तमुपनीय कृशानामबलानां

चतुःशता गा निराकृत्योवाचेमाःसोम्यानुसंभ्रजेति ता अभिप्रस्थापयन्नुवाच

नासहस्त्रेणावर्तयेति स ह वर्षगणं

प्रोवास ता यदा सहस्रं संपेदुः ॥5॥

इति चतुर्थः खण्डः ॥4॥

अथ हैनमृपभोऽभ्युवाद सत्यकाम 3 इति भगव इति ह

प्रतिशुश्राव प्राप्ताः सोम्य सहस्रं स्मः प्रापय न आचार्यकुलम् ॥1॥

ब्रह्मणश्च ते पादं ब्रवाणीति ब्रवीतु मे भगवानिति तस्मै होवाच प्राची दिक्कला

प्रतीची दिक्कला दक्षिणा दिक्कलोदीची दिक्कलैष वै सोम्य चतुष्कलः पादो

ब्रह्मणः प्रकाशवान्नाम ॥2॥

स य एतमेवं विद्वान्श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानित्युपास्ते

प्रकाशवानस्मिल्लोके भवति प्रकाशवतो ह लोकाञ्जयति य एतमेवं विद्वान्

श्चतुष्कलं पादं ब्रह्मणः प्रकाशवानिक्षुपास्ते ॥3॥

इति पञ्चमः खण्डः ॥5॥<sup>148</sup>

उपर्युक्त कथानक का भावानुवाद प्रसिद्ध दार्शनिक विन्टरनिट्ज इस प्रकार करते हैं—<sup>149</sup>

“जाबाला के पुत्र सत्य काम ने माँ के पास आकर कहा—माँ! मैं ब्रह्मचारी होना चाहता हूँ, किन्तु सभी जगह लोग मुझसे एक ही सवाल करते हैं; कि तेरा वंश क्या है?”

माँ उत्तर देती है— “मेरे बच्चे यह तो मुझे भी नहीं मालूम। जब मैं युवा थी घर में मेहमानों का ताँता लगा रहता था। मैं नौकरानी थी, मुझे नहीं मालूम मैं कैसे गर्भिणी हुई और कैसे तेरी माँ बन गई। तेरा पिता कौन है? मैं तो बस इतना ही जानती हूँ कि मेरा नाम जाबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है— तू सत्यकाम जाबाल है।”

वह गौतम हारिद्रुमत के आश्रम में पहुँचा। हारिद्रुमत ने पूछा भाई तुम किस पिता की संतान हो, मुझे कहो और उसने उत्तर दिया, मुझे कुछ नहीं मालूम महाराज। मैंने अपनी माँ से भी पूछा था

<sup>148</sup> छा. उप. 4.4-5

<sup>149</sup> दृष्टव्यः विन्टरनिट्स—प्रा.भा.सा.पृ.184-85

और उसने समचुम माँ का वही उत्तर शब्दशः ब्राह्मण शिरोमणि को कह सुनाया। जिसे सुनकर आचार्य के मुख से स्वतः निकला—

‘तुम सचमुच ब्राह्मण हो सच कहने में तुम्हें जरा भी भय नहीं हुआ, तुम सच्चे अर्थों में ब्राह्मण हो, एक तुम ही हो जो ब्रह्मविद्या के सच्चे अधिकारी हो।’

विन्टरनिट्स कहते हैं—‘उपनिषदों में, राजा ही नहीं, साधारण स्त्रियाँ, अज्ञात—कुलशील, शूद्र आदि भी दार्शनिक चिन्तनों में अक्सर हिस्सा लेते हैं और स्वतन्त्र विवेचना द्वारा ब्रह्मविद्या के परमतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। बृहदारण्यक में वचक्नु की पुत्री याज्ञवल्क्य को सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्नों की बौछार में इस प्रकार उलझा देती है कि वह खौल पड़ता है—“गार्गी कहीं तेरा सिर तो फटने नहीं लग गया? ‘परब्रह्म’ के सम्बन्ध में इस तरह सीमोल्लंघन नहीं करना चाहिये। कुछ सीमा में रहना ही अच्छा होता है।’ एक और स्थल में उसी उपनिषद् में भरी सभा के सम्मुख गार्गी याज्ञवल्क्य का एक बार फिर सामना करती है और कहती है, “मैं आज तेरे सम्मुख उसी तरह खड़ी हूँ जैसे वाराणसी या विदेह में कोई सूरमा अपने धनुष और डोरी को ढीला करके आ जाए—किन्तु दूसरे हाथ में उसके दो तेज तीर हो! क्या तुम मेरे दो तेज सवालों का जवाब दे सकोगे?” एक और मौके पर (बृहदार. 3.6;3.8;2.4;4.5;) याज्ञवल्क्य से उसकी अपनी पत्नी मैत्रेयी ही जूझ पड़ती है। ऐसा ही एक ऋषि था कवश जो किसी गृहदासी का पुत्र था। वह एक बार किसी महासत्र में सम्मिलित होने आया तो पुरोहितों ने गुस्से में आकर उसे खदेड़ दिया कि भूख और प्यास से आकुल होकर वह वीरान में जाकर मर जाए। किन्तु सरस्वती स्वयं अपने दिव्य जलों के साथ उसके निकट प्रवाहित हो आती है, उसे एक सूक्त का दर्शन होता है और वही ब्राह्मण तब उसे ऋषि मानकर सिर चढा लेते हैं।<sup>150</sup>

---

<sup>150</sup> ऐतरेय ब्रा. 2.19

ब्राह्मण के स्वाभाविक गुणों का वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि शान्तिप्रियता, आत्मसंयम, तपस्या, पवित्रता, सहिष्णुता, सत्यनिष्ठा ज्ञान विज्ञान एवम् धार्मिक गुणों वाला व्यक्ति हो, ब्राह्मण कहलाने योग्य है।

वैदिक वाङ्मय में भी ब्राह्मण को ज्ञानी, कर्तव्य परायण, दयालु पवित्र, विनम्र व्यक्ति के रूप में ही वर्णित किया गया है।

**आ ब्रह्मन्ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसि जायतामा राष्ट्रे।<sup>151</sup>**

अर्वाचीन सामाजिक प्रबन्धन में हो रहे नैतिक पतन के परोक्ष में भी यही कारण है कि शिक्षा ने एक व्यवसाय का रूप ले लिया तथा प्रायः शिक्षक धनार्जन के उद्देश्य से शिक्षा का विक्रय कर रहे हैं।

गीता में वीरता, तेज, संकल्प, दक्षता, युद्ध क्षेत्र में अपलायनता, दानशीलता, नेतृत्व क्षमता, इत्यादि गुण क्षत्रिय वर्ण के बताए गए हैं।

वेदों में भी क्षत्रिय वर्ण का चित्रण कुशल सम्राट, शक्तिशाली, राष्ट्रभक्त, निस्वार्थ, व्यक्ति के रूप में किया गया है, एक क्षत्रिय का सर्वप्रमुख कर्तव्य राष्ट्र तथा राष्ट्रवासियों की रक्षा करना होता है। जो व्यक्ति सत्य तथा राष्ट्र की रक्षा के लिए दृढ़प्रतिज्ञ हो वही क्षत्रिय है। क्षत्रिय राज्य का नेतृत्व करते हैं, न्याय तथा प्रशासनिक कार्य भी उन्हीं के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आते हैं।

**स्वराडसि सपत्नहा सत्रराडस्यभिमातिहा**

**जनराडसि रक्षोहा सर्गराडस्यमित्रहा।<sup>152</sup>**

यज्ञ में भी क्षत्रियवर्ण के लिए वीरता की अभिलाषा की जाती थी।

**राष्ट्रे राजन्युः शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायतां।<sup>153</sup>**

अर्थात् हमारे राज्य में क्षत्रिय शूर, लक्ष्य वेधी, धनुषबाण धारी तथा महारथी उत्पन्न होंगे।

<sup>151</sup> शु.यजु. 22.22

<sup>152</sup> शु.यजु. 5.24

<sup>153</sup> शु.यजु. 22.22

वैश्य वर्ण के लिए गीता में कृषि कार्य, गोरक्षा, व्यापार व्यवसाय इत्यादि स्वाभाविक कर्म बताए गए हैं।

वैदिक वाङ्मय में भी वैश्य वर्ण को वाणिज्य व्यवसाय कृषि सम्बन्धी कार्य तथा पशुपालन में निपुण बताया गया है। यही उनका स्वधर्म है। तुलायै वाणिजं<sup>154</sup> व्यापारिक बुद्धि वाले व्यक्ति को ही वैश्य के रूप में वर्णित किया गया है। समाज के आर्थिक संतुलन के लिए यह वर्ण विभाजन अतिमहत्वपूर्ण है। वैश्य को ग्राम प्रधान अथवा ग्रामणी के रूप में भी वर्णित किया गया है।

शूद्र वर्ण का कर्म श्रमदान तथा परिचर्या करना है। समाज का वह वर्ग जो बौद्धिक तथा शारीरिक क्षमता में तुलनात्मक रूप से निर्बल है उस वर्ग की भी समाज को आधारभूत आवश्यकता है। शूद्र वर्ण द्वारा सम्पादित परिचर्यात्मक कार्य की भी सामाजिक प्रबन्धन में अत्यधिक आवश्यकता है। वेदों में तो शूद्र वर्ण को रथ के पहियों के रूप में वर्णित किया गया है जो समाज को गतिमान बनाए रखने के लिए अत्यन्त आवश्यक है। शेष तीनों वर्णों का शूद्र वर्ण के प्रति कर्तव्य उन्हें समुचित सम्मान व धन प्रदान करने का निर्देश भी प्राप्त होता है। राजा को भी समाज के अन्तिम व्यक्ति तक के प्रति उसके कर्तव्य का ज्ञान वेदों में स्पष्ट निर्देशित है।

समाज के चारों वर्णों में अन्तर्वैयक्तिक सम्बन्ध तथा एक दूसरे पर निर्भरता भी स्पष्ट है। वर्ण व्यवस्था पूर्णतः वैज्ञानिक थी जहाँ सभी वर्णों का अपना अलग महत्त्वपूर्ण स्थान था। सभी वर्णों को अपनी सकारात्मक तथा प्रशंसनीय ऊर्जा को परिष्कृत तथा विस्तारित करने के लिए अवसर प्राप्त था।

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ।

ब्रह्मराजन्याभ्याम् शूद्राय चार्याय च स्वाय

चारणाय च । प्रियो देवाना दक्षिणायै

---

<sup>154</sup> शु.यजु. 30.17

दातुरिह भूयास मयं मे कामः

समृद्धयतामुप मादो नमतु ॥<sup>155</sup>

यज्ञ में सभी वर्णों के शुभ के लिए प्रार्थना की गई है। सभी को समान महत्व के साथ आमन्त्रित किया जाता था।

वेदों में स्पष्टतः वर्णित है कि ईश्वर सभी प्राणियों का उद्गम है, सर्वव्यापी है, अपने कर्मों द्वारा ही मनुष्य पूर्णता को प्राप्त कर सकता है और यही ईश्वर प्राप्ति का प्रथम सोपान है। अर्थात् वेद कर्म प्राधान्य शिक्षा ही प्रदान करते हैं तथा मानव की बहुमुखी क्षमताओं एवम् असीमित सम्भावनाओं को रेखांकित करते हैं।

वेदों में यह भी स्पष्ट है कि किसी भी वर्ण को तुलनात्मक रूप से हीन नहीं जानना चाहिए। सभी वर्णों में आपसी सामञ्जस्य तथा परस्पर सौहार्द की भावना को बल देते हुए वैदिक वाङ्मय में विवाह, शिक्षा, भोजन आदि को वर्ण विभाजन से सर्वथा मुक्त रखा गया है। वैदिक आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन में प्रत्येक स्तर को इंगित करती है। मनुष्य की औसत आयु को चार भागों में विभाजित कर आश्रम व्यवस्था का विधान है—

1. ब्रह्मचर्याश्रम
2. गृहस्थाश्रम
3. वानप्रस्थाश्रम
4. सन्यासाश्रम

विभिन्न आयुवर्ग के अनुसार मनुष्य जीवन के सर्वप्रथम सोपान को ब्रह्मचर्य के रूप में विद्याध्ययन करते हुए व्यतीत करने का निर्देश दिया गया है। ब्रह्मचर्यावस्था को आत्मनियन्त्रण की अवस्था भी कहा गया है जिसमें व्यक्ति का ध्यान मात्र शिक्षाकी ओर ही केन्द्रित होना चाहिये। वैदिक विधान

---

<sup>155</sup> शु.यजु. 26.2

के अनुसार बालक को उपनयन संस्कार के पश्चात् गुरु के आश्रम में रहकर गुरुजी के मार्गदर्शन में अध्ययन करना होता था।

प्रसृतो ह वै यज्ञोपवीतिनो यज्ञः  
यत्किञ्चिद् ब्राह्मणो यज्ञोपवीत्यधीते  
यजत एव तत्।<sup>156</sup>

अर्थात् यज्ञोपवीत धारण करने वाले का यज्ञ भलीभाँति स्वीकार किया जाता है, यज्ञोपवीतधारी जो अध्ययन करता है वह ब्रह्मतेज को प्राप्त करता है।

वैदिक काल में ब्रह्मचर्य के पश्चात् गृहस्थाश्रम का उल्लेख है। सर्वाधिक महत्व के साथ गृहस्थाश्रम को सम्पूर्ण सामाजिक गतिविधियों के केन्द्रबिन्दु के रूप में स्थापित किया गया है। गृहस्थ के सामाजिक उत्तरदायित्वों, परिवार के प्रति कर्तव्यों, पितृओं के प्रति आदर भाव तथा ईश्वर के प्रति समर्पण का अति सुन्दर चित्रण वेदों में यत्रतत्र प्राप्त होता है।

मनुस्मृति के अनुसार, पिता प्रजापति की मूर्ति है, माता पृथिवी की मूर्ति है तथा भाई अपना ही प्रतिरूप है—

आचार्यो ब्रह्मणो मूर्तिः पिता मूर्तिः प्रजापतेः।  
माता पृथिव्या मूर्तिस्तु भ्राता स्वो मूर्तिरात्मनः।<sup>157</sup>

पारिवारिक जीवन का आदर्श चित्रण अथर्ववेद में भी देखने को मिलता है जहाँ सभी को साथ मिल कर समान मना होकर चलने का संदेश प्राप्त है—

सहृदयं सांमनस्मविद्वेषं कृणोमि वः।  
अन्यो अन्यमभिहर्यत् वत्सं जातमिवाध्न्याः।।  
अनुब्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः  
जाया पत्ये मधुमती वाचं वदतु शान्तिवाम्।।  
मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।

<sup>156</sup> तै. आ. 2.1.1

<sup>157</sup> मनुस्मृति 2.145

सभ्यञ्च सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥<sup>158</sup>

यज्ञों में भी सर्वत्र शुद्ध कल्याणकारी कर्मों के साथ धन तथा दीर्घायु की भी प्रार्थना की गई है। आर्य पुत्र पौत्रादिकों के साथ सम्पन्न होकर अपना जीवन व्यतीत करना चाहते थे—

तुचे तुनाय तत्सु नो द्राधीय  
आयुर्जीव से अदित्यासः समुहासः कृणोतन ।<sup>159</sup>  
शतमिन्नुशरदो अन्ति देवा यत्रा  
नश्चक्रा जरसंतमूनाम  
पुत्रासो यत्र पितरो भवन्तिमा  
नोमध्या रीरिषतायुर्यन्तो ॥<sup>160</sup>

अर्थात् हे देवताओं! जब हम वृद्धावस्था को प्राप्त होते हैं उस समय हमारे पुत्र भी पिता बन जाते हैं। तुम हमें अल्पायु में मृत्यु प्रदान न कराओ। मानवमात्र को चराचर जगत् में सर्वत्र मित्र दृष्टि से देखकर सार्वभौम समृद्धि का मार्ग प्रदर्शित किया है यही वैदिक सामाजिक प्रबन्धन है—

**मित्रस्य चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षामहे ।**

सच्चे मित्र के विषय में भी वेद कहते हैं कि जो मित्र विपत्ति काल में काम आए तथा दानशील प्रवृत्ति का हो वही सच्चा मित्र होता है—

न स सखा यो न ददाति सख्ये ।  
सचाभुव सचमानाय पित्वः ।  
अपास्मात् प्रेयान्न तदोको अस्ति  
पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत् ।<sup>161</sup>

वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन में गृहस्थाश्रम के विषय में प्रायः प्रत्येक क्षेत्र में पर्याप्त कलेवर प्राप्त हैं। गृहस्वामी अपने चहुँ ओर के पर्यावरण पशुपक्षियों एवम् अन्य प्राणियों (चींटी आदि)

<sup>158</sup> अथर्ववेद 2.30 1-3

<sup>159</sup> सामवेद 395

<sup>160</sup> ऋग्वेद, 1.89.9

<sup>161</sup> ऋग्वेद 10.117.4



की खाद्य सामग्री के प्रति भी उत्तरदायी होता था। सामाजिक एकता एवम् उसके परिपालन में उत्तरदायित्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर उसमें आनंद की अनुभूति करता था।

विवाह संस्था को भी वेदों में पर्याप्त महत्व के साथ प्रतिष्ठापित किया गया है, जिसकी एक सामाजिक मान्यता थी।

वर तथा वधू वैदिक ऋचाओं के आधार पर अग्नि को साक्षी मानकर आजीवन पवित्र वैवाहिक बन्धन में बंध जाते थे। पति पत्नी दोनों ही समान रूप से जीवनपर्यन्त मित्रवत् प्रेम से रहते थे। विवाह के समय ऋषि उस जोड़े को आशीर्वाद देते थे—

**इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका**

**दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥**

**इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती ।**

**प्रजायनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥<sup>162</sup>**

अर्थात् खीलों से आहुति देती हुई यह वधू यह कामना करती है कि मेरा पति दीर्घजीवी और शतायु हो। ऋषि कहते हैं, हे इन्द्र! इस दम्पति को चकवा चकवी के समान प्रीति दो। इन्हें सुन्दर गृह और सन्तान से युक्त रखो। ये जीवन पर्यन्त सुख का भोग करें।

वे कहते हैं इस वधू के लिए विधाता ने गृह रूपी लोक बनाया है यह कल्याणी उसे प्राप्त हो। उसे देवता संतान से प्रवृद्ध करें। ऋषि वर को भी उसके कर्तव्यों का ज्ञान कराते हैं। विवाह संस्कार में सप्त पदी इसका स्पष्ट उदाहरण है जहाँ वर वधू का हाथ अपने हाथों में रख अग्नि के सम्मुख उसे आजीवन सुख, भोजन, सम्पन्नता, वैभव, पशुधन, त्याग समर्पण आदि का वचन देता है। ऋषि कहते हैं हे पुरुष! तू इस उर्वरा नारी में बीज वपन कर और यह तेरे निमित्त सन्तानोत्पत्ति करें। हे वधू! तू स्निग्ध दृष्टि रखती हुई पति को क्षीण न करने वाली है। तू वीर पुत्रों का प्रसव

---

<sup>162</sup> अथर्ववेद 15.2.63-64

करती हुई मन से प्रसन्न होती हुई सबको सुख देने वाली होकर इस घर में प्रवेश कर। तू पति और देवर को हानि न पहुँचाने वाली, पशुओं का हित करने वाली, प्रजावती (संतान) शोभन कान्ति वाली, सुख देने वाली होती हुई देवर का अहित चिन्तन न करने वाली होती हुई अग्नि का पूजन कर। गृहस्थ रूप आश्रम में प्रविष्ट होने से पूर्व यह वधू अग्नि का पूजन कर रही है। हे स्त्री! अब तू सरस्वती और पितरों को नमस्कार कर—

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।  
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजाया वर्ययन्तु ॥  
आत्मन्वत्युवंरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपते बीजमस्याम् ।  
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषस्य रेतः ॥  
प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।  
सिनीबालि प्रजायतां भागस्यसमता वसत् ॥  
उद् व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापा याक्त्राणि मुञ्चत ।  
मादुष्कृतौ ब्येनसावध्यावशुनमारनाम् ।  
अधीरचक्षुर पतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः ।  
वीरसुर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना ।  
अदेवृध्न्यपतिध्नाहैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा सुवर्चाः ।  
प्रजावती वीरसुर्देवृकामा स्योनेममग्निं गार्हपत्यं सपर्य ।  
उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद्गृहात् ।  
शून्यषी निर्ऋते याजगन्धोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ।  
यदा गार्हपत्यमसपर्येत पूर्व मग्निं वधूरियम् ।

अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥<sup>163</sup>

वैदिक काल में पतिपत्नी दोनों ही अपने पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों व उत्तरदायित्वों के प्रति समर्पित व सजग थे। दम्पति के मध्य परस्पर विश्वास की भावना सुदृढ़ थी।

ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर पूर्णतः युवती होने पर ही सामान्यतः विवाह किया जाता था—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।<sup>164</sup>

अर्थात् विद्याध्ययन की समाप्ति के उपरान्त नारी योग्य पति को प्राप्त करती है।

कियती योषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण।

भद्रा वधूर्भवति यत्सुपेशाः स्वयं सा मित्रं वनुतेजने चित्।<sup>165</sup>

अर्थात् भद्रानारी स्वयं अपने पति का वरण करती है।

जीवनसाथी का चुनाव करने की स्वतन्त्रता भी युवक तथा युवती दोनों को होती थी तथा दोनों की सहमति से विवाह होता था।

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु।

ब्रह्मणस्ते पतिमस्यै रोचय चारु

संभलो वदतु वाचमेताम्।<sup>166</sup>

ऋषि कहते हैं तुम दोनों सत्य बोलते हुए सौभाग्य को प्राप्त करो। हे ब्रह्मणस्पते! तुम इसके लिए पतिधर्म स्वीकार करो और वह भी स्वीकार रूप वाणी को कहे—

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्था येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम्।

समर्यमा सं भगो नो निनीयात् सं जास्पत्यं सुयममस्तु देवाः

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवः।

<sup>163</sup> अथर्ववेद 14.2.13–20

<sup>164</sup> अथर्ववेद 11.5.8

<sup>165</sup> ऋग्वेद 10.27.12

<sup>166</sup> अथर्व 14.1.1

ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके ऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि  
 प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम् ।  
 यथेयमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रा सुभगासति  
 पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्या ऽश्विना त्वा प्र वहतां रथेन  
 गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि  
 इह प्रियं प्रजया ते समृध्यता मस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि ।  
 एना पत्या तन्वं१ सं सृजस्वा—ऽधा जित्री विदथमा वदाथः  
 नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।  
 एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ।  
 परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु  
 कृत्यैपा पद्वती भूत्व्या जाया विशते पतिम्  
 अश्रीरा तनूर्भवति रुशती पापयामुया ।  
 पतिर्यद्वध्वो३ वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते  
 ये वध्वश्चन्तु वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु ।  
 पुनस्तान यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः  
 मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।  
 सुगेभिदुर्गमतीता—मप द्रान्त्वरातयः  
 सुमङ्गलीरियं वधू—रिमां समेत पश्यत  
 सौभाग्यमस्यै दत्त्वायाऽथास्तं वि परेतन ।<sup>167</sup>

ऋषि कहते हैं वधू के गृह पहुँचने वाले सभी मार्ग कण्टक रहित हों, जिससे हमारे मित्र कन्या के घर पहुँचते हैं (बारात) ये पति व पत्नी अच्छे मिथुन हों। देवगण इस जोड़े को सुखी करें। पिता के घर से कन्या पति के कुल में प्रवेश करती है उस पतिकुल से उसका सम्बन्ध सुदृढ़ हो। परमात्मा इस वधू को पतिकुल में उत्तम भाग्य व उत्तम सन्तान से युक्त करे। अपने स्वामी के घर में प्रवेश कर तू घर की स्वामिनी व सबको वश में रखने वाली हो (अपने मधुर आचरण द्वारा) वहाँ तू उत्तम विवेक युक्त सम्भाषण करे तथा अपना गृहस्थ धर्म उत्तम रीति से निर्वाह करे। इस प्रकार जब धर्ममार्ग से गृहस्थाश्रम चलाते हुए पति पत्नी वृद्ध हो जाएँ तब वे दोनों उत्तम वचनों का उपदेश अपनी सन्तानों को प्रदान करें। क्रोध सभी का शत्रु होता है, किन्तु जब गृहस्वामिनी क्रोधित होती है तब विनाश की संभावना अधिक होती है। पतिकुल में दुराचरण करने वाली स्त्री पारस्परिक द्वेष को बढ़ाती है। (यहाँ सभी को यह शिक्षा दी गई है कि कन्या को सदैव सुशिक्षा देना चाहिये) हे कन्या! क्रोध का त्याग करो व प्रायश्चितार्थ ब्राह्मणों को धन दो और पति के साथ सुखपूर्वक रहो। कोई शत्रु तुम्हारे समीप न आ सके।

तत्पश्चात् ऋषि उपस्थित समाजजनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि यह वधू शोभन कल्याणवाली है। समस्त आशीर्वादकर्ता आवें और इस विवाहितों को उत्तम सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद प्रदान कर अनन्तर सब अपने घर चले जाएँ। एक कन्या को अपने सद्गुणों, बुद्धिकौशल, सौम्य स्वभाव आदि के द्वारा पतिकुल के सभी लोगों के मन पर साम्राज्य करने का आशीर्वाद उत्तरदायित्व एवम् यथेष्ट सम्मान दिया जाता था—

**सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी स्वश्रां भव ।**

**ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु ॥<sup>168</sup>**

ऋग्वेदीय मन्त्र में वधू के लिए कहा गया है कि तुम अपनी सास, श्वसुर, ननद, देवर आदि की सम्राज्ञी बनकर उन पर शासन करो।

<sup>168</sup> ऋग्वेद 10.85.46

अथर्ववेद में भी कन्या को विवाह पश्चात् पतिकूल में सम्राज्ञी होने का आशीर्वाद प्रदान किया गया है—

यथा सिन्धुर्नदीनां साम्राज्यं सषुवे वृषा ।  
एवा त्वं सम्राज्ञयेधि पत्युरस्तं परेत्य ॥  
साम्राज्ञयेधि श्वसरेषु सम्राज्ञयेत देवृषु ।  
ननान्दुः सम्राज्ञयेयुधि सम्राज्ञयुत श्वश्रुवाः ॥<sup>169</sup>

वैदिक काल में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही अधिकार प्रदान किये जाते थे। यज्ञादि धार्मिक अनुष्ठानों में स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान होता था—

समानीप्रथा सह वोडन्नभागः  
समाने योकत्रे सह वो युनज्मि ।  
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभितः ॥<sup>170</sup>

सामाजिक प्रबन्धन में जिस प्रकार स्त्री के लिए पति का त्याग उचित नहीं है, उसी प्रकार पुरुषों के लिए भी स्त्री का त्याग अनुचित है—

त्यजता भवता पत्नीं न शोभनमनुष्ठितम्  
अत्याज्जो हि यथा भर्ता स्त्रीणां भार्या तथा नृणाम् ॥<sup>171</sup>

वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन में विधवा विवाह को भी मान्यता प्राप्त थी—

उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकं गता सुमेतमुप शेषएहि ।  
हस्तग्राभस्य दिधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभिसंबभूथ ॥<sup>172</sup>

अर्थात् हे नारी! तू जीवित लोगों का विचार करके यहाँ से उठ, तेरा पति मृत है, इसके पास तुम व्यर्थ ही सोई हुई हो, इधर आओ, पाणिग्रहण करने वाले और पोषण करने वाले तेरे पालक पति के साथ इस सन्तान को लक्ष्य करके तू उससे मिल कर रह ।

<sup>169</sup> अथर्ववेद 14.1.43.44

<sup>170</sup> अथर्ववेद 3'30.1.6

<sup>171</sup> मार्क. पु. 17.11

<sup>172</sup> ऋग्वेद 10.18.8

तत्कालीन स्त्रियाँ पतिव्रता होती थी किन्तु प्रबुद्ध सभाजन उन्हें पति की मृत्यु के पश्चात् संतान के लिए जीने की प्रेरणा देकर उसका पुनर्विवाह भी करवाते थे।

**नवो नवो भवति जयमानोऽह्नां केतु रूषसामेत्यग्रम।।<sup>173</sup>**

अर्थात् यह चन्द्र प्रतिदिन पुनः उत्पन्न होकर नया ही होता है। दिनों का सूचक सूर्य प्रतिदिन नया होकर प्रातःकाल उदित होता है। उसी प्रकार हमें जो दुःख बीत चुका है उसे भूल कर नवीनता की ओर प्रवृत्त होना चाहिये।

तत्कालीन सामाजिक प्रबन्धन में स्त्री को समाज में सर्वोपरि स्थान प्राप्त था। शिक्षा का द्वार पुरुष तथा स्त्री सभी के लिए समानरूप से खुला था। तत्कालीन निष्णात महिलाओं का पाण्डित्य मात्र गृह कार्य की परिधि में सीमित नहीं था।

वर्तमान सन्दर्भों में भी यह कहना उचित होगा की गृहस्वामिनी मात्र पुरुष द्वारा किये गये प्रत्येक निर्णय पर स्वीकारोक्ति ही प्रदान करें तो यह सम्भवतः पुरुष के अहं को संतुष्टि मिल सकती है, किन्तु इससे गृहस्थी में आनन्द नहीं प्राप्त हो सकता है। वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन के अनुसार आज भी सुखी गृहस्थ जीवन के लिए पत्नी की निर्णय में भागीदारी भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण है। इस विषय को लेकर कई मनोवैज्ञानिक प्रयोग किये जा रहे हैं। मेगन मर्फी (ले. निशि नारंग) द्वारा प्राप्त रिपोर्ट के अनुसार “रिश्ते पर समग्र नजर रखना, यह सुनिश्चित करना कि रिश्ता चलता रहे, गृहस्थी के सम्पूर्ण कार्य हो तथा पारिवारिक प्रसन्नता भी बनी रहे यह महिलाओं का उत्तरदायित्व है। यह तथ्य भी स्पष्ट है कि पुरुष द्वारा स्त्री के प्रभाव को स्वीकार करना व उसे पर्याप्त महत्त्व व सम्मान देना आवश्यक है।”

वैदिक संस्कृति की भी यही मान्यता रही है कि जिस परिवार में पति-पत्नी में सामन्जस्य तथा आपसी समझ हो वहाँ लक्ष्मी, भाग्य तथा समृद्धि का वास होता है। तत्कालीन व्यवस्था में स्त्री

---

<sup>173</sup> ऋग्वेद 10.85.19

को अर्द्धाग्निनी, धर्मपत्नी अथवा सहधर्मचारिणी इत्यादि सम्बोधनों से सम्बोधित किया जाता था। इसका आशय यह है कि स्त्री ही वह शक्ति है जो पति को धर्म की ओर प्रेरित करे तथा पति के साथ कर्त्तव्य व सत्य के मार्ग पर जीवनपर्यन्त चले।

वर्तमान समय में भी उस पवित्र चिन्तन शैली की अत्यन्त आवश्यकता है जो स्त्री व पुरुष दोनों के ही अहं से ऊपर उठ कर परस्पर सहिष्णुता, लचीलापन, प्रेम व आपसी समझ के साथ जीवन में उत्तरोत्तर प्रगति करें। इस प्रकार जब दम्पति परस्पर समर्पण भाव से एक दूसरे के गुणों को सम्मान देंगे तभी एक दूसरे की कमियों को भी पूरा कर सकेंगे।

मनुस्मृति (3-56) के अनुसार स्त्री ही गृहस्थी का भाग्य निर्धारित करती है तथा गृहस्थी में सभी के लिए प्रकाश पुञ्ज होती है, वे पारिवारिक तथा धार्मिक जीवन का अभिन्न अंग हैं, यहाँ तक कि स्वर्ग का नियन्त्रण भी नारियों के पास है।

सामान्यतः किसी भी समाज में सामाजिकता का स्तर नैतिकता व आध्यात्मिकता के मापदण्डों पर इस आधार पर जाना जा सकता है कि समाज महिलाओं के सम्मान के प्रति कितना जागरूक है अथवा महिलाओं को शोषित तिरस्कृत व मात्र उपभोग की वस्तु समझा जा रहा है।

इस सन्दर्भ में वैदिक मान्यताओं में नारी के गुणों के प्रति सम्मान की स्वर्णिम परम्परा रही है। इस प्रकार समृद्ध वैदिक संस्कृति को समझकर यह भी कहा जा सकता है कि, जहाँ स्त्रियाँ सुखी व सम्मानित हों वहाँ सम्पन्नता की वर्षा सदैव परिवारों को सिंचित करती रहेगी।

वैदिक सदुपयोग के कारण ही भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में अनेक नारियों का अभ्युदय सम्भव हुआ है, जिन्होंने आध्यात्मिक, प्रशासनिक, साहित्यिक, शिक्षा, सामाजिक, विज्ञान यहाँ तक कि युद्ध क्षेत्र में भी वीरांगनाओं के रूप में अकल्पनीय आकाश को स्पर्श किया है।



स्त्री व पुरुष एक दूसरे के बिना अपूर्ण हैं। वैदिक संस्कृति में पुरुष शक्तियों के साथ ही प्राकृतिक शक्तियों तथा दैवीय शक्तियों के प्रति आदरभाव ही नहीं अपितु उनकी उपसना करने की भावना को स्थापित किया गया है।

स्त्री को ईश्वर ने सृजनकर्ता के रूप में बनाया है, मातृत्व गुणों से वह सम्पूर्ण मानव जाति को पोषित करती है। वैदिक संस्कृति में हम स्त्री को परिवार की नींव के रूप में पाते हैं। यही कारण है कि धरती को व सम्पूर्ण प्रकृति को भी मातृस्वरूपा ही माना गया है।

वेदों में वर्णित षोडश संस्कारों में उद्धृत गर्भाधान संस्कार को भी महत्व दिया गया है। एक बालक अपनी माँ के गर्भ में रहकर ही त्याग, दया, प्रेम, सहिष्णुता आदि का ज्ञान करता है। अतः माँ को ही शिशु के प्रथम गुरु के रूप में सम्मान दिया गया है।

प्राचीन भारतीय संस्कृति में अविवाहित व निःसंतान व्यक्ति को अपूर्ण कहा गया है, अनेक स्थानों पर पत्नी रहित पुरुष को यज्ञ करने का अधिकार भी नहीं है—

**“यज्ञो वा ह्येष याऽपत्नीकः।”<sup>174</sup>**

सामाजिक प्रबन्धन हेतु जनसंख्या नियन्त्रण के लिए वर्तमान सरकार अरबों रूपयों की योजनाएँ बना रही है किन्तु अथर्ववेद में कई वर्षों पूर्व ही ऐसी औषधि मानव जाति को प्राप्त थी—

**त्व वीरुधां श्रेष्ठतमाऽभिश्रुताऽस्याषधे।**

**इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि।”<sup>175</sup>**

उपर्युक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध विद्वान श्री अवधानुलू कहते हैं—

“Thou art listened to, O herb, as the most best of plants, make thou now man for me impotent (क्लीब), opaca wearing, which means that the particular herb is efficacious in making a man impotent.”<sup>176</sup>

<sup>174</sup> तैत्तिरीय ब्राह्मण— 6.3.105

<sup>175</sup> अथर्ववेद 6.138.1

<sup>176</sup> Science and Technology in Vedas and Sastras by Dr. RVSS Avadhanulu P. 253

स्वास्थ्य प्रबन्धन की ओर भी वैदिक मनीषियों का पर्याप्त ध्यान था। कृमियों तथा रोग उत्पन्न करने वाले जीवाणुओं को अनेकानेक रोगों का हेतु स्वीकार किया गया है। रोग-जीवाणु अनेक रूप वाले होते हैं तथा यह आश्चर्यजनक सत्य है कि प्रायः समस्त कीटाणुओं के व उनके निदान के विषय में तत्कालीन ऋषि भलीभाँति परिचित थे।

ओते मे द्यावा पृथिवी ओता देवी सरस्वती ।  
ओतो म इन्द्रश्चाग्निश्च क्रिमि जम्भयतामिति ।।  
अस्येन्द्र कुमारस्य क्रिमीन् धनपते जही ।  
हता विश्वा आरतय उग्रेण वचसा मम ।।  
यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।  
दतां यो मध्वं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ।।  
मरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ रोहितौ द्वौ ।  
ब भ्रुश्च बभ्रु कर्णश्च गृघ्नः कोकश्च ते हताः ।।  
ये क्रिमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शिति बाहवः ।  
ये के च विश्वरूपास्तान क्रिमीन् जम्भयामसि ।।  
उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टहो अदृष्टहा ।  
दृष्टांश्च धन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ।।  
येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।  
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ।।  
हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।  
सर्वान नि मष्मषाकर दृषदा खल्वांइव ।।  
त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारगमर्जुनम ।

शृणाम्य यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥  
 अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्ति कण्ववज्जमदग्निवत् ।  
 अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्यहं क्रिमीन् ॥  
 हतो राजा क्रिमीणामुतैषाँ स्थपतिर्हतः ।  
 हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥  
 हत सो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ।  
 अथो ये क्षुल्लाकाइव सर्वेते क्रिमतो हताः ॥  
 सर्वेषा च क्रिमीणां सर्वासा च क्रिमीणाम् ।  
 भिनदमयश्मना शिरो दहाम्यग्नि ना मुखम् ॥<sup>177</sup>

ऋषि कहते हैं, हे इन्द्र! इन कृमियों का नाश करो। अनेक रूप वाले कीड़ों का यज्ञ व मन्त्रबल से नाश हो। तेजवान, दर्शनीय सूर्य अदृश्य कीटों का नाश करते हैं। ऋषि यह भी कहते हैं कि कृमियों के राजा, उनके कुटुम्ब पूरी तरह नष्ट हो जाएँ।

वर्तमान युग में विभिन्न कम्पनियाँ पृथक्-पृथक् नाम देकर कीटनाशक उत्पादों का निर्माण विपुल मात्रा में कर रही है, जिनमें हिट, मॉर्टिन, जेट, कॉलिन्स, सेनीफ्रेश, कछुआ, इत्यादि अनेकानेक उत्पाद भारतीय घरों में गृहिणियों के लिए स्वच्छता उपकरण के रूप में उपादेय माने जाते हैं। यही नहीं भारतीय रसोईघरों में बर्तन साफ करने के विभिन्न रासायनिक उपकरण जो प्रदूषण तथा धूल से बचाव के लिए हैं एवम् कीट नाशक अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं। किन्तु इन सबका मनुष्य के स्वास्थ्य पर क्या प्रतिकूल प्रभाव होता है इस विषय में अधिक विचार नहीं किया जाता।

<sup>177</sup> अथर्ववेद 5.23

वहीं वैदिककाल में यज्ञ, पर्यावरण रक्षा, गाय का गोबर, गोमूत्र, यज्ञ सामग्री में प्रयुक्त विभिन्न वस्तुएँ गुग्गल इत्यादि पर्यावरण में पाये जाने वाले कीटों का प्रभाव कम करने के लिए प्रयुक्त किये जाते थे, तथा उनका मानव शरीर पर कोई दुष्प्रभाव भी नहीं होता था।

वैदिक सामाजिक प्रबन्धन में वास्तुकला का भी अपना महत्व है। गृह निर्माण के निमित्त भी अनेक सूक्त उपदिष्ट हैं।

अथर्ववेद में प्राप्त गृह निर्माण सूक्त में तत्कालीन गृहनिर्माण प्रबन्धन व्यवस्था को परिलक्षित करता है। सुरक्षित, शान्तिप्रद, रमणीय, आरोग्यकारक, सुदृढ़, पवित्र व विपुल अन्नयुक्त, पर्याप्त पशु सम्पदायुक्त घर होना चाहिये। ऋषि कहते हैं, घर चाहे छोटा हो अथवा बड़ा हवादार तथा उसमें रहने वाले सभी व्यक्तियों को सुख, प्रेम व आनन्द की अनुभूति होना चाहिये—

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा ।

तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्ठवीरा उप सं चरेम ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती ।

ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय ॥

धरुण्य सि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या ।

आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धनेवः सायमास्पन्दमानाः ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।

उक्षन्तूद्रा मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्यग्रे ।

तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्न वृड्क्व शत्रून् ।

मा ते रिषन्नुषसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥

एमां कुमारस्तरुण आ वत्सो जगता सह ।

एमां परिस्त्रुतः कुम्भ आ दुघ्नः कलशैरगुः ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घतस्य धारामृतेन संभृताम् ।

इमां पातृनमृतेना समङ्गधीष्ठापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।

गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥<sup>178</sup>

सामवेद में भी वास्तुशास्त्र से सम्बद्ध अनेक मन्त्र प्राप्त है यथा—

त्रिधातु त्रिवरुथं स्वस्तये छर्दिः दिधुं शरणं मह्यं देहि ।<sup>179</sup>

अर्थात् तीन मंजिल वाले, तीन छप्पर वाले, रहने वालों का कल्याण करने वाले; आश्रय योग्य व उत्तम प्रकाश युक्त घर मुझे दें ।

घर मंजिलों वाले दो-तीन भाग वाले हो, उनमें उत्तम प्रकाश व्यवस्था हो, जिससे रोग जीवाणुओं की उत्पत्ति क्षीण हो, रहने वालों का कल्याण हो, उसमें लोगों की रहने की इच्छा हो अर्थात् वह गृह जहाँ मन निश्चिन्त व प्रसन्न रह सके, ऐसा सुखकारक घर मुझे दें ।

वातः नः हृदे शंभुः मयोभुः भेषजं आवातु नः आयूषि प्रतारिषत् ।<sup>180</sup>

अर्थात् वायु हमारे घर में हृदय को सुख और आरोग्य देने वाली औषध अपने साथ लावे, इससे हमारी आयु लम्बी हो । शुद्ध वायु घर में प्रवेश करने से उसके साथ आरोग्य देने वाले शुभगुण हमारे घर के मनुष्यों को प्राप्त हो तथा हम सब निश्चिन्त हों ।

ऋतुओं के संधिकाल में अर्थात् एक ऋतु के समाप्त होने पर जब दूसरी ऋतु प्रारम्भ होती है तब हवा के परिवर्तित होने से अनेक रोग जन्म लेते हैं । अतः ऋतुओं के सन्धिकाल में यज्ञ किये

<sup>178</sup> अथर्ववेद 3.12.1-9

<sup>179</sup> सामवेदए 266

<sup>180</sup> सामवेद, 184

जाते हैं। इन यज्ञों में गाय का घी एवम् रोगों को शान्त करने वाले अन्यान्य औषधियों से हवन किया जाता है, जिससे रोगों का नाश होता है। जिसका वर्णन गोपथ ब्राह्मण में प्राप्त होता है—

**ऋतु संधिषु वै व्याधिर्जायते ऋतुसंधिषु यज्ञाः क्रियन्ते।**

सामवेद का अनुवाद करते हुए पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर कहते हैं कि यज्ञ के तीन अर्थ हैं— (1) देवपूजा (2) संगतिकरण (3) दान

इनसे मनुष्यों की शक्ति बढ़ती है। समाज में रहने वाले श्रेष्ठ पुरुषों का सत्कार होने से श्रेष्ठ पुरुषों की संख्या बढ़ती है। उसके पश्चात् संगतिकरण की आवश्यकता होती है, संगतिकरण का अर्थ है समाज की शक्ति का विस्तार। तीसरा पक्ष है दान। दान का अर्थ मात्र धन देना ही नहीं है, अपितु जिसके पास जिस वस्तु का अभाव है वह वस्तु उसे देकर उसका उद्धार करना भी दान है। अज्ञानियों को विद्या का दान करने से वे ज्ञानवान होकर उन्नत होते हैं। जो निर्बल हैं उनके बल को बढ़ा कर उन्हें बलवान बनाना, धन का दान देकर देश में धन उत्पन्न करने के साधनों को बढ़ाना यह राष्ट्र की उन्नति के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य है। बेरोजगारों को काम देकर उन्हें धन मिले ऐसा प्रबन्ध करना। इस प्रकार दान से देश की उन्नति होती है। सामाजिक प्रबन्धन को सुचारु रूप से गतिमान रखने के उद्देश्य से सुपात्र को दान की वैदिक अवधारणा निश्चय ही वर्तमान सामाजिक प्रबन्धन में प्रत्येक व्यक्ति की उन्नति के लिए आवश्यक है।

प्रसिद्ध प्रबन्ध वैज्ञानिक पीटर एफ, ड्रकर के अनुसार “प्रबन्धन समाज का एक आवश्यक अंग बन गया है, अपितु आज के अशान्त वातावरण में इसकी महत्ता और बढ़ गई है। ड्रकर भविष्य के उपद्रवी एवम् अशान्त समय में प्रबन्धन की भूमिका व चुनौतियों को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि आने वाले अशान्त समय में प्रबन्धन का प्रमुख कार्य सामाजिक संगठन की अस्तित्व क्षमता को निश्चित करना, आकस्मिक परिवर्तनों से समायोजन की क्षमता एवम् नवीन अवसरों का उपयोग कर सकने की क्षमता को बनाए रखना है। वे कहते हैं कि प्रबन्धन एक विज्ञान ही नहीं “संस्कृति” भी है।

यह एक सामाजिक कार्य है तथा यह संस्कृति में, समाज में मूल्यों, परम्पराओं व विश्वासों में तथा प्रशासकीय एवम् राजनैतिक प्रणालियों से अन्तःस्थापित है।<sup>181</sup>

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि वैदिककालीन सामाजिक प्रबन्धन व्यवस्था में व्यक्ति से लेकर समाज ही नहीं अपितु सम्पूर्ण विश्व के कल्याण की प्रार्थना की गई है।

“वसुधैव कुटुम्बकम्” भारतीय सामाजिक प्रबन्धन की सर्व प्रमुख विशेषता रही है, पाश्चात्य अलगाववादी सामाजिक ढाँचे की अपेक्षा विश्वबन्धुत्व व सामाजिक एकता की भावना अधिक श्रेष्ठ है। वैदिक कालीन मनीषियों ने अपना दार्शनिक चिन्तन व्यक्ति विशेष, समान अथवा राष्ट्रहित के साथ-साथ सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के मंगल के लिए समर्पित कर दिया था। आत्ममंथन व आत्मनियन्त्रण व समर्पण द्वारा व्यक्तिगत उन्नति के साथ-साथ परिवार समाज एवम् राष्ट्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त किया जा सकता है।

सामाजिक प्रबन्धन की प्रकृत कण्डिका में निष्कर्ष रूप में यह कहना संगत होगा कि वैदिक दृष्टि कभी भी अयातयाम नहीं है, सम्पूर्ण ऋषि कुल के सामने मनुष्य और उसका सामाजिक परिवेश उनकी आँखों में भरा हुआ था। समाज की क्षुधा, तृष्णा, अवसाद, कुण्ठा, हिंसा, प्रतिहिंसा आदि के दृश्य जो मानवीयता को संवारने में बाधा बनते हैं उनके लिए ऋषियों ने अनेक कथानक प्रस्तुत किये हैं जो समाधान कारक सिद्ध हुए हैं। शतपथ ब्राह्मण का यह उपाख्यान समाज की विद्रूप आकृति को प्रकाशित करता है, किन्तु सार्थक समाधान की दिशा में कुछ ऐसे उत्तर प्रस्तुत करता है जिन्हें समसामयिक युग में भी परखा जा सकता है। वरुण पुत्र भृगु अहंकार से परिपूरित होकर अपनी विद्या का आत्मकथन प्रस्तुत करते हुए सर्वज्ञ सिद्ध हो जाने की चेष्टा करता है, किन्तु विद्या का यदि समाज से सम्बन्ध नहीं है तो वह विद्या निरर्थक है। वरुण पुत्र को ज्ञान देता है कि समाज दर्शन करो। समाज में व्याप्त असंतुलन को समझो, और उसे ज्ञात कर सामाजिक संरचना का ऐसा प्रबन्धन

---

<sup>181</sup> प्रबन्ध चिन्तन का इतिहास, ले. जी. एस. सुधा, पृ. 230

करो कि भूख, प्यास, हिंसा आदि तत्त्वों का विध्वंस होकर योगक्षेम का ऐसा समाज निर्मित हो, जिसमें 'संगच्छध्वं' की प्रवृत्ति 'संवोमनांसिजानताम्' का परिवेश उत्पन्न हो जाय। प्रस्तुत पंक्तियों में विषय की गहनता व महत्व की दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण का यह उपाख्यान तथा उसका भावानुवाद पूर्ण रूपेण प्रस्तुत है—

भृगुर्ह वै व्वारुणिः । व्वरुणम्पितरं व्विद्ययातिमेने तद्ध व्वरुणो व्विद्वाञ्चकाराति वै मा  
व्विद्यया मन्नयत ऽइति ।।1।।

स होवाच । प्राङ् पुन्त्रक व्वजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्वष्ट्वा दक्षिणा व्वजतात्तत्र  
यत्पश्येस्तद्वष्ट्वा प्रत्यग्रजतात्तत्र यत्पश्येस्तद्वष्ट्वो दग्रजतात्तत्र  
यत्पश्येस्तद्वष्ट्वैतयोः पूर्वयोरुत्तरमन्नववान्तरदेशं व्वजतात्तत्र यत्पश्येस्तन्नम  
ऽआचक्षीथा ऽइति ।।2।।

स ह तत ऽएव प्राङ् प्रवव्राज । इदु पुरुषैः पुरुषान्नपर्वाण्येषाम्पर्वशः  
संव्रश्चम्पर्वशो व्विभजमानानिदन्तवेदम्म मेति स होवाच भीष्मम्बत भोः पुरुषान्नवा  
ऽएतत्पुरुषाः पर्वाण्येषाम्पर्वशः संव्रश्चम्पर्वशो व्व्यभक्षतेति ते होचुरित्थं व्वा  
ऽइमेऽस्मान्मुष्मिल्लोकेऽसचन्त तान्नवयमिदमिह प्रतिसचामहा ऽइति स होवाचास्तीह  
प्रायश्चिच्छ्वतीऽरित्यस्तीति काति पिता ते व्वेदेति ।।3।।

स ह तत ऽएव दक्षिणा प्रवव्राज । इदु पुरुषैः पुरुषान्नपर्वाण्येषाम्पर्वशः  
सङ्कर्त्तम्पर्वशो व्विभजमानानिदन्तवेदम्ममेति स होवाच भीष्मम्बत भो पुरुषान्नवा  
ऽएतत्पुरुषाः पर्वाण्येषाम्पर्वशः सङ्कर्त्तम्पर्वशो, व्व्यभक्षतेति ते होचुरित्थं व्वा  
ऽइमेऽस्मान्मुष्मिल्लोकेऽसचन्त तान्नवयमिदमिह प्रतिसचामहा ऽइति स होवाचास्तीह  
प्रायश्चिच्छ्वतीऽरित्यस्तीति काति पितैव ते व्वेदेति ।।4।।

सह तत ऽएव प्रत्यङ् प्रवव्राज । इदु पुरुषैः  
पुरुषाँस्तूष्णीमासीनाँस्तूष्णीमासीनैरद्यमानान्त्स होवाच भीष्मम्बत भोः पुरुषान्नवा  
ऽएतत्पुरुषास्तूष्णीमासीनाँस्तूष्णीमासीना ऽअदन्तीति ते होचुरित्थं व्वा



ऽइमेऽस्मान्मुष्मिल्लोकेऽसचन्त तान्नवयमिदमिह प्रतिसचामहा ऽइति स होवाचास्तीह  
प्रायश्चित्तीर्षित्यस्तीति काति पितैव ते व्वेदेति ।।5।।

स ह तत ऽएवोदङ् प्रवव्राज । इदु पुरुषैः पुरुषानाक्क्रन्दयत

ऽआक्क्रन्दयद्विरद्यमानान्त्स होवाच भीष्मम्वत भोः पुरुषान्वा ऽएतत्पुरुषा

ऽआक्क्रन्दयत ऽआक्क्रन्दयन्तोऽदन्तीति ते होचुरिथं व्वा

ऽइमेऽस्मान्मुष्मिल्लोकेऽसचन्त तान्नवयमिदमिह प्रतिसचामहा ऽइति स होवाचास्तीह  
प्रायश्चित्तीर्षित्यस्तीति काति पितैव ते व्वेदेति ।।6।।

स ह तत ऽएवैतयोः पूर्वयोः । उत्तरमन्नववान्तरदेशम्प्रवव्राजेदु स्त्रियौ

कल्याणीञ्चातिकल्लयाणीञ्च ते ऽअन्तरेण पुरुषः कृष्णःपिङ्गाक्षो

दण्डपाणिस्तस्तथौ तद् हैनन्दृष्ट्वा भीर्विवेद स हेत्य संविवेश तद् ह

पितोवाचाधीष्व स्वाद्ध्यायङ्कस्मान्नु स्वाद्ध्यायन्नाधीष ऽइति स होवाच किमद्ध्यष्ये

न किञ्चनास्तीति तद्ध व्वरुणो व्विदाञ्चकाराद्रयेग्गवा ऽइति ।।7।।

स होवाच । यान्नवैतत्प्राच्ययान्दिश्यद्राक्षीः पुरुषैः पुरुषान्नपर्वाण्येषाम्पर्वशः

संब्रश्च्यम्पर्वशो व्विभजमानानिदन्तवेदम्ममेति व्वनस्पतयो वै ते ऽअभूवन्त्स

यद्वनस्पतीना समिधमादुधाति तेन व्वनस्पतीनवरुद्धे तेन

व्वनस्पतीनाँल्लोकञ्जयति ।।8।।

अथ यानेतद्दक्षिणायान्दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषान्नपर्वाण्येषाम्पर्वशः सङ्कर्त्तम्पर्वशो

व्विभजमानानिदन्तवेदम्ममेति पशवो वै ते ऽअभूवन्त्स यत्पयसा जुहोति तेन

पशूनवरुद्धे तेन पशुनाँल्लोकञ्जयति ।।9।।

अथ यानेतत्प्रतीच्ययान्दिश्यद्राक्षी ।

पुरुषैः पुरुषाँस्तूष्णीमासीनाँस्तूष्णीमासीनैरद्यमानानोषधयो वै ता ऽअवभूवन्त्स

यत्तृणेनावज्जयोतयति तेनौषधीरवरुद्धे तेनौषधीनाँल्लोकञ्जयति ।।10।।

अथ यानेतदुदीच्चान्दिश्यद्राक्षीः । पुरुषैः पुरुषानाक्क्रन्दयत

ऽआक्क्रन्दयद्भिरद्यमानानापो वै ता ऽअभूवन्त्स यदाः यदप प्रत्यानयति तेनापोऽवरुन्दे  
तेनापाँल्लोकञ्जयति ॥11॥

अथ ये ऽएते । स्त्रियावद्राक्षीः कल्याणीञ्चाति कल्याणीञ्च सा या कल्याणी सा  
श्रद्धा स यत्पूर्वामाहुतिञ्जुहोति तेन श्रद्धामवरुन्दे तेन श्रद्धाञ्जयत्यथ  
यातिकल्याणी साश्रद्धा स यदुत्तरामाहुतिञ्जुहोति तेनाश्रद्धामवरुन्दे  
तेनाश्रद्धाञ्जयति ॥12॥

अथ य ऽएने । सोऽन्तरेण पुरुषः कृष्णः पिङ्गाक्षो दण्डपाणिरस्तथात्क्रोधो वै  
सोऽभूत्स यत्सुच्यप ऽआनीय निनयति तेन क्रोधमवरुन्दे तेन क्रोधञ्जयति स य  
ऽएवं विद्वानग्निहोत्रञ्जुहोति तेन सर्वञ्जयति सर्वमवरुन्दे ॥13॥

ध्वनि प्रतिध्वनि

सर्वशास्त्र, सम्पन्न(?)  
अहं-मत्य, वरुण-पुत्र 'भृगु'-विचारमग्न  
ज्ञान-विज्ञान में हूँ अधिक सर्वोत्कृष्ट  
वह, क्या जानता है?  
समस्त मानव जीवन के परिदृश्य

वरुण को हुआ ज्ञात,  
पुत्र का पल्लवग्राही ज्ञान अनुभव  
हो जाए, परीक्षण  
कहता है-वरुण  
पुत्र -भृगु'-भूमण्डल का करो परिभ्रमण  
ज्ञान की इतिकर्तव्यता का बोध कराओ ।  
पूर्व दिशा में तुम्हारा हो प्रस्थान  
वहाँ के अनुभव लेकर कूच करो दक्षिण में  
पूर्व-दक्षिण के अनुभव समेटे  
प्रस्थान करो पश्चिम में,  
पूर्व-दक्षिण-पश्चिम के  
चाक्षुष सत्य को  
भरकर अपनी आँखों में  
चल पड़ो उत्तर को,  
पूर्व दक्षिण-पश्चिम-उत्तर के

सामासिक अनुभव से भरे-भरे तुम  
पहुँचो पूर्वोत्तर में  
देखो.....सर्वत्र देखो  
पोर-पोर दर्शन कर  
मुझे बताओ-क्या है? क्या हो रहा है?  
क्या है मर्यादित; क्या है अमर्यादित?

भृगु ने पूर्व में देखा  
नजारा था- अति वीभत्स  
पुरुष-पुरुष  
खण्ड-खण्ड चर्वण  
हिंसा-प्रतिहिंसा  
परस्पर मानवीय हिंसा  
प्रतिस्पर्धा का फलितार्थ  
.....सबकुछ निरन्तर, अन्तहीन,  
भृगु की जिज्ञासा  
है, क्या कोई समाधान.....  
जनता बोली- हम नहीं जानते  
शायद,  
पिता वरुण को ज्ञात है  
-हिंसा का प्रतिकार

भृगु का हुआ दक्षिण प्रस्थान  
वही, पूर्व का परिदृश्य,  
खण्ड-खण्ड  
पुरुष-पुरुष  
मानवीय हिंसा का ताण्डव  
न संवेदना, न प्रायश्चित्त  
भृगु ने तलाशा,  
कानो कान पूछा  
क्यों है-यह सब  
उत्तर -कठोर था-  
पुराकाल में इन लोगों का था यही आचरण  
'हमलोगों' का भी यही आचरण।।  
भृगु ने जन सम्मेलन से किया प्रश्न  
क्या? है-समाधान  
भीड़ का था कथन  
नहीं, नहीं हम नहीं जानते  
शायद, पिता वरुण को ज्ञात है  
-हिंसा समाधान.....

सम्प्रति क्रम-प्राप्त भृगु चला,

पश्चिम.....  
यहाँ का दृश्य, और-और भयंकर  
हर व्यक्ति है....  
मौन.....मौन..... मौन.....  
मौन हिंसा का है, अवतरण  
मौन व्रती, किन्तु  
मानव, मानव-भक्षी  
भृगु का वही प्रश्न?  
क्यों है- मौन से मौन हिंसा  
प्रच्छन्न घात-प्रतिघात  
है- कोई, समाधान  
जनसंकुल ने किया इशारा  
हम नहीं जानते!  
कुछ बताये हमें  
क्यों है, चुपचाप - यह रक्तप्रवाह ।

उत्तर में जब पहुँचा भृगु  
था परिदृश्य -  
नारे, चिल्लाहट, शोर....  
ध्वनि-प्रतिध्वनि के साथ  
हिंसा की सत्ता  
मनुष्य, मनुष्यभक्षी  
इतिहास से वर्तमान तक  
निन्दनीय, अतिगर्हित  
भृगु ने फिर पूछा....  
क्या है- समाधान  
आरोप - प्रत्यारोप, क्यों?  
जनता का था, स्वर.....  
हम नहीं जानते यह सब,  
शायद,  
वरुण को हो, कोई ज्ञात समाधान ।  
भृगु का पूर्वोत्तर गमन,  
परिवर्तित है, दृश्य बन्ध  
एक स्त्री सुन्दरी-कल्याणी  
दूसरी स्त्री अति सुन्दरी- अतिकल्याणी  
कल्याणी-अतिकल्याणी

मध्यस्थ है-  
वह, -क्रोध का विद्रूप रूप  
काला-कलूटा -कंजी आँखें  
मोटा -दण्डा हस्तगत  
सभी, कम्पित - उत्कम्पित

भयग्रस्त  
सुन्दर, अति सुन्दर, क्रोध  
क्या है?  
गृह प्रत्यावर्तित भृगु' ने  
सूचित किया पिता को—  
'तत्त्वार्थ—बोध' नहीं कर पाया  
शास्त्रज्ञान —विद्या —वैभव  
निरर्थक है, सर्वथा अप्रशस्त ।।

'पिता! कुछ तो रहस्य का करो भेदन....  
वरुण ने समझाया  
पुत्र! — विद्या का स्वाध्याय  
और,  
समावर्तन का दीक्षा मन्त्र  
यही है — प्रशस्त मार्ग — सद्—भाव  
तथापि  
तुमने चतुर्दिक—पूर्वोत्तर  
जो कुछ निहारा, सुना  
उसका निहितार्थ, समझना होगा ।।  
वरुण उवाच—  
पूर्व दिशा की हिंसा में,  
शक्तिहीन मनुष्य,  
संसाधनों का अपहरण  
तन्त्र की विफलता  
मुक्त करो उनसे, जो  
—संसाधन—भक्षी, मनुष्यभक्षी ।

दक्षिण दिशा —  
दावपेंच में निष्णात  
षडयन्त्र—पुरोधा  
बन्दीकृत — जीवन — साँसें  
यही परिवर्तन —समाधान  
कि,  
मुक्त हो वे साँसें  
सर्व—सुरक्षा अभिवचन ।।  
पश्चिम की वार्ता में है  
मौन हिंसा का दर्शन  
उस भयावह सत्य का परिमार्जन  
कैसे?  
मन्त्र—दीक्षा हो.....  
'अन्नं ब्रह्म'  
न तृषा न तृष्णा न बुभुक्षा

उत्तर की चीत्कार-हाहाकार-नारे  
असम्बद्ध भाषा, निन्दा  
यह प्रलपन,  
कुछ सत्य  
कुछ अर्धसत्य  
लेकिन,  
कण्ठ सूखे हैं  
ध्वनि कर्कश है  
अतएव,  
कण्ठविष का होना है प्रक्षालन,  
तृप्ति-यज्ञ का अनुष्ठान  
यही है -समाधान

सुन्दरी-अतिसुन्दरी  
कल्याणी-अतिकल्याणी  
कल्याणी-श्रद्धा; अतिकल्याणी-अश्रद्धा  
अतिसुन्दर-अतिश्रद्धा-  
दम्भ छल की अभिव्यक्ति  
श्रद्धा का ही हो वरण  
वही, सुन्दर, वरेण्य

कल्याणी ।।  
और,  
क्रोध का वह विद्रूप चेहरा  
दण्डधारी,  
कर दो परास्त,  
तभी- योग-क्षेम का संसार ।

साभार समावर्तन  
रूपान्तरण- डॉ. केदारनाथ शुक्ल<sup>182</sup>

## शिक्षा—कला—संस्कृति प्रबन्धन

पवित्रे ते विततं ब्रह्मणस्पते प्रभुर्गात्राणि पर्येषि विश्वतः ।

आतप्तनूर्न तदामे अश्नुते शृतास इद्वहन्तस्तत् समाशत ॥<sup>183</sup>

अर्थात् हे ज्ञान के स्वामी! तुम ही सबके प्रभु हो। चहुँ ओर पवित्रता विस्तारित करने का तेरा कार्य अनवरत है। (ज्ञान का प्रचार करके सुविचारों रूपी रश्मियों को फैलाकर समस्त मानवजाति को पवित्र करने का कार्य ज्ञानी पुरुष कर रहे हैं)

जिसका शरीर कार्य करने से तप्त नहीं हुआ है, अर्थात् जो परिश्रमी नहीं है ऐसे अपरिपक्व मनुष्य उस ब्रह्मज्ञान रूपी सुख को प्राप्त नहीं कर सकते। परिपक्व हुए मनुष्य ही ज्ञान के आनंद को प्राप्त कर सकते हैं।

### शिक्षा प्रबन्धन

शिक्षा मनुष्य के जीवन में सफलता का निर्धारण करने वाला एक अहम तत्व है। वैदिक वाङ्मय में शिक्षा प्रबन्धन के विषय में आर्यों ने अत्यन्त गम्भीर चिन्तन किया था। शिक्षा, कला, एवम् संस्कृति के विषय में वैदिक वाङ्मय में स्थान—स्थान पर प्रमाण स्तम्भ प्राप्त है। शिक्षा तथा संस्कृति परस्पर पूरक हैं तथा कला उनमें प्राणों का संचार करती है। मनुष्य जीवन में ज्ञान के महत्व को वेदों में अनेकानेक सूक्तों के माध्यम से दर्शाया गया है।

विद्यां चाविद्या च यस्तद्वेदोऽभयं सह ।

अविद्ययामृत्युंतीर्त्वा विद्यायाऽमृतमश्नुते ॥

अर्थात् सद्कर्मों एवम् पुरुषार्थ द्वारा व्यक्ति मृत्यु पर भी विजय प्राप्त कर सकता है, अच्छी बुद्धि व शिक्षा द्वारा व्यक्ति अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह अटल सत्य है कि मनुष्य के सर्वांगीण विकास का वेदोक्त के लिए निर्दिष्ट मार्गों में सर्वश्रेष्ठ मार्ग शिक्षा है।

<sup>183</sup> ऋग्वेद 9.83.1

अक्षुण्ण ज्ञान राशि वेद का प्रायः अद्यपर्यन्त यथावत् जीवित स्वरूप ही उसके परिपक्व होने का प्रमाण है। विश्व का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध साहित्य वेद ही है। वेदों में शिक्षा की नैतिक अथवा धार्मिक परिधि से इतर विभिन्न प्रकार के ज्ञान-विज्ञान, कलाएँ इत्यादि का भी समग्र विवरण प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में अक्षर ज्ञान से लेकर, धनुर्विद्या, योग विद्या, खगोलशास्त्र, ज्योतिष, काव्य, नृत्य, गीत-संगीत, वाद्य, अंतरिक्ष विज्ञान, यज्ञ विद्या, वास्तुकला, आयुर्विज्ञान इत्यादि के विषय में चर्चा की गई है। अर्थात् सम्भवतः शायद ही कोई ऐसी कला अथवा शिक्षा हो जिसका वर्णन वैदिक वाङ्मय में अप्राप्त हो।

वैदिक काल में ब्रह्मचर्याश्रम के अन्तर्गत गुरुकुल में रहकर विद्यार्थी को दत्तचित्त होकर समर्पण व एकाग्रता के साथ ऋषियों के आश्रम में रहकर विद्या प्राप्त करनी होती थी। तत्कालीन ज्ञान प्रबन्धन के अन्तर्गत स्त्रियों को भी उच्च शिक्षा प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। वैदिक काल में जिन बालकों को ज्ञानार्जन के प्रति अत्यधिक आसक्ति होती थी प्रायः गुरु उन्हें ही अपने शिष्य के रूप में अपनाते थे। शिष्य के अन्तर्मन में उभरे प्रश्नों का उत्तर देकर शान्त करना तथा आत्मसाक्षात्कार द्वारा अत्युत्तम आनन्द द्वारा शान्ति की प्राप्ति करवाना ही गुरु का लक्ष्य होता था। विद्या ही समस्त भौतिक एवम् आधिभौतिक सुखों की प्राप्ति का साधन है—

**विद्याददाति विनयं विनयाद् याति पात्रताम्**

**पात्रत्वाद् धनम् आप्नोति धनाद् धर्मं ततः सुखम् ॥<sup>184</sup>**

षोडश संस्कार में उपनयन का अत्यधिक महत्त्व है। उपनयन को विद्यार्थी का दूसरा जन्म कहा गया है। माता के गर्भ से जन्म के पश्चात् व्यक्ति परावलम्बी होता है किन्तु जब उसमें सांसारिक चेतना जागृत होती है, वह ब्रह्मविद्या प्राप्त कर एक नवीन जीवन प्राप्त करता है। जीवन



के प्राथमिक चतुर्थांश को विद्याध्ययन के लिए सर्वथा उपयुक्त वर्णित किया तथा ब्रह्मचर्य के रूप में सुरक्षित किया।

वैदिककालीन ऋषि विषय में विद्यार्थी की अभिरुचि के अनुसार ही उसे भविष्य में उपयोगी शिक्षा प्रदान करते थे। जिन विद्यार्थियों की प्रतिभा ब्राह्मविद्या प्राप्त करने में नहीं होकर शस्त्र विद्या, पशुपालन इत्यादि के अनुरूप ही उसे समुचित व्यवसाय का पूर्ण शिक्षण प्रशिक्षण प्रदान किया जाता था।

बुद्धिमान विद्यार्थियों को गुरुकुल में स्थान प्राप्त होता था। किन्तु मंदबुद्धि वाले विद्यार्थी को भी उसकी योग्यता के अनुरूप शिक्षा का अधिकार था।

वितरति गुरुः प्रज्ञे विद्यां यथैव तथा जडे  
न तु खलु तयोर्ज्ञाने शक्तिं करोत्यपहन्ति वा।  
भवति च तयोर्भूयान्भेदः फलं प्रति तद्यथा  
प्रभवति शुचिर्विम्बग्राहे मणिर्न मृदादयः।।<sup>185</sup>

शिक्षा प्राप्त करने के लिए वर्णभेद किसी प्रकार की बाधा न था, वैदिककालीन ऋषियों में विद्या दान के प्रति किसी प्रकार का संकोच न था। इस सम्बन्ध में महाभारत के शान्ति पर्व में इस प्रकार वर्णन है—

इत्येते चतुरो वर्णा ब्राह्मी सरस्वती।

विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभादज्ञानतां गताः।<sup>186</sup>

शिक्षा का अर्थ मात्र ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति न होकर धर्म, अर्थ, काम एवम् मोक्ष पर आधारित शिक्षा जो नैतिक मूल्यों पर आधारित थी जो व्यक्ति को मानवता के हित में आचार व्यवहार की शिक्षा देती थी। वैदिक शिक्षा प्रबन्धन में मानव मूल्यों का सम्मिश्रण सदैव से रहा है।

<sup>185</sup> उत्तरराम चरित 2.4

<sup>186</sup> महा. शान्तिपर्व, 181.15

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः  
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः.  
सक्तुमिव तितउनापुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।  
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रेषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि  
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्तृषिषु प्रविष्टाम्  
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते  
उत त्वः पश्चन् न ददर्श वाच मुत त्वः शृण्वन् न शृणोत्येनाम्  
उतो त्वस्मै तन्वं१ वि सन्ने जायेव पत्य उशती सुवासाः  
उत त्व सख्ये स्थिरपीतमाहु नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु  
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्  
यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति  
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्  
अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः ।  
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे हृदा इव स्रात्वा उ त्वे दृदृश्रे  
हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद्वाहणाः संयजन्ते सखायः ।  
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभि रोहब्रह्मणो वि चरन्त्यु त्वे  
इमे ये नार्वाङ्गं परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः ।  
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः  
सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः  
किल्बिषस्पृत् पितुषणिर्होषा मरं हितो भवति वाजिनाय  
ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्पान् गायत्रं त्वो गायति शक्करीषु ।

## ब्रह्मात्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां ति मिमीत उ त्वः।<sup>187</sup>

ऋग्वेद के उपर्युक्त सूक्त में ऋषियों का अति सूक्ष्म चिन्तन द्रष्टव्य है, वे कहते हैं— प्रथम ही आरम्भ में बालक पदार्थों का नाम रखकर जो कुछ बोलते हैं, वह उनकी वाणी का सबसे पूर्ण स्वरूप है। इनका जो श्रेष्ठ शुद्ध और जो निष्पाप ज्ञान है, वह गुप्त है, और वह प्रेम के कारण प्रकट होता है। बुद्धिमान श्रेष्ठ पुरुष जिस समय बुद्धि बल से वाणी को प्रस्तुत करते हैं, उस समय वे प्रेम व भावना से परिपूर्ण ज्ञानी हृदय उस वाणी में मित्रता के भावों को जान जाते हैं, सहृदय ज्ञानियों की वाणी में कल्याण कारक मंगलकारी लक्ष्मी निवास करती है।

बुद्धिमान मनुष्य उत्कृष्ट वाणी द्वारा अभ्यर्थित अभिष्ट को यज्ञ के माध्यम से प्राप्त करते हैं। बुद्धिमान मनुष्य मन्त्रद्रष्टा ऋषियों द्वारा उपदेशित वाणी का प्रसार सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करते हैं। अज्ञानी मनुष्य अर्थ को न जानकर प्रायः ज्ञानपूर्ण वाणी के अभिप्राय को नहीं समझ पाते हैं। ऋषि यह भी कहते हैं कि जो व्यक्ति ज्ञान का अर्थ व तात्पर्य के जाने बिना अध्ययन करता है वह पाप का भागी होता है। सभी व्यक्तियों की ज्ञान ग्रहण करने की तथा उसे अभिव्यक्त करने की क्षमता में असमानता होती है।

वर्तमान में भी शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे अध्ययनों, सर्वेक्षणों के अनुसार शिक्षा के व्यावसायीकरण के कारण सर्वत्र स्वस्थ प्रतिस्पर्धा के स्थान पर प्रतिद्वंद्वितापूर्ण वातावरण उभरकर सामने आ रहा है विद्यार्थी का व्यक्तित्व विकसित होकर आनंदपूर्वक प्रतिबिम्बित होने के स्थान पर बालकों के कोमल कांधों पर परिणाममूलक शिक्षा का तनाव लादा जा रहा है।

आधुनिकता की दौड़ में विद्यार्थी परीक्षा परिणामों को ध्यान में रखकर अपना अध्ययन करते हैं। वैदिककालीन शिक्षण पद्धति के अनुरूप विद्यार्थी के सर्वांगीण विकास को केन्द्र में रखकर

---

<sup>187</sup> ऋग्वेद, 10.71.1-11

शिक्षाविद् प्रायोगिक शिक्षा, विभिन्न विषयों में रुचि, खेलकूद, नृत्य, संगीत एवम् अन्य शास्त्रीय विधाओं, रचनात्मक लेखन, सम्भाषण इत्यादि क्षेत्रों के अनुसार ही शिक्षा कार्यक्रम बना रहे हैं।

प्रायः समस्त वैदिक वाङ्मय चराचर जगत् के विषयों को स्वयं में समाहित किये हुए हैं। किसी न किसी रूप में सभी विषयों का समावेश वेदों में प्राप्त होता है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय की विज्ञान के क्षेत्र में अनेक उपलब्धियाँ आधुनिक वैज्ञानिकों द्वारा स्वीकृत हैं। अनेक गणितीय तत्व जिनका ज्ञान वैदिक ऋषियों को अति प्राचीन काल से था। प्रायः संसार की प्रत्येक वस्तु एक निश्चित क्रम, एक नियम से बंधी हुई है और इसी क्रम नियम के ज्ञान के मूल में गणितीय सिद्धान्त समाहित है।

गणित के क्षेत्र में सम्पूर्ण विश्व को भारतीय मेधा की देन है 'शून्य' का सिद्धान्त। वैदिक अंक सङ्केत पद्धति में 0 से 9 तक दस चिन्ह हैं। वैदिक वाङ्मय में शून्य का प्रयोग रिक्तता के अर्थ में भी होता है। दशमलव मान पद्धति के प्रयोग से अतिसूक्ष्म का विवेचन भी वेदों में प्राप्त होता है। शून्य को किसी भी संख्या में जोड़ने, घटाने, अङ्क के दाहिनी ओर शून्य को रखने पर उस अङ्क का मान दस गुना अधिक प्राप्त होता है। यही आविष्कार सिद्ध करता है कि शून्य की अवधारणा भारत में अति प्राचीन, व्यापक एवम् प्रामाणिक है जो अद्य पर्यन्त वैज्ञानिकों को सहायक सिद्ध होता जा रहा है। शून्य का मान शुक्ल यजुर्वेद में इस प्रकार मन्त्र के माध्यम से वर्णित है—

एका च दशा च शतञ्च

शतञ्च सहस्रञ्च सहस्रञ्चायुतञ्चायुतच

नियुतञ्च नियुतञ्च प्रयुतञ्चार्बुदञ्च न्यर्बुदञ्च

समुद्रश्च मध्यञ्चान्तश्च परार्धः।<sup>188</sup>

शुक्ल यजुर्वेद में ही अङ्कों की सम व विषम गणना भी प्राप्त होती है।

---

<sup>188</sup> शु.यजु. 17.2

एका च मे तिस्रश्च मे  
तिस्रश्च मे पञ्च च मे  
पञ्च च मे सप्त च मे  
सप्त च मे नव च मे  
नव च मे एकादश च मे  
एकादश च मे त्रयोदश च मे  
त्रयोदश च मे पञ्चदश च मे  
पञ्चदश च मे सप्तदश च मे  
सप्तदश च मे नवदश च मे  
नवदश च मे एकविंशतिश्च मे  
एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे  
त्रयोविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे  
पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे  
चतस्रश्च मे ऽष्टौ च मे  
अष्टौ च मे द्वादश च मे  
द्वादश च मे षोडश च मे  
षोडश च मे विंशतिश्च मे  
विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मे  
चतुर्विंशतिश्च मे अष्टाविंशतिश्च मे  
अष्टाविंशतिश्च मे द्वात्रिंशच्च मे  
द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे  
षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिंशच्च मे  
चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे

चतुश्चत्वारिंशच्च मे अष्टाचत्वारिंशच्च मे।<sup>189</sup>

अङ्को की गणना तैत्तिरीय संहिता में भी प्राप्त होती है—

एकस्मै स्वाहा द्वाभ्याँ स्वाहा त्रिभ्यः स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा षड्भ्यः  
स्वाहा सप्तभ्यः स्वाहा ऽष्टाभ्यः स्वाहा नवभ्यः स्वाहा दशभ्यः स्वाहैकादशभ्यः  
स्वाहा द्वादशभ्यः स्वाहा त्रयोदशभ्यः स्वाहा चतुर्दशभ्यः स्वाहा पञ्चदशभ्यः स्वाहा  
षोडशभ्यः स्वाहा सप्तदशभ्यः स्वाहा ऽष्टादशभ्यः स्वाहैकान्नविंशत्यै स्वाहा नवविं  
शत्यै स्वाहैकान्न चत्वारिंशते स्वाहा नवचत्वारिंशते स्वाहैकान्न स्वाहा नवषष्ट्यै  
स्वाहैकान्नशीत्यै स्वाहा नवाशीत्यै स्वाहैकान्न शताय स्वाहा शताय स्वाहा द्वाभ्याँ  
शताभ्याँ स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ।

एकस्मै स्वाहा त्रिभ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा सप्तभ्यः स्वाहा नवभ्यः  
स्वाहैकादशभ्यः स्वाहा त्रयोदशभ्यः स्वाहा पञ्चदशभ्यः स्वाहा सप्तदशभ्यः  
स्वाहैकान्नविंशत्यै स्वाहा नवविंशत्यै स्वाहैकान्नचत्वारिंशते स्वाहा नवचत्वारि  
ंशते स्वाहैकान्नषष्ट्यै स्वाहा नवषष्ट्यै स्वाहै कान्नाशीत्यै स्वाहा नवाशीत्यै  
स्वाहैकान्नशताय स्वाहा शताय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ।

द्वाभ्याँ स्वाहा चतुर्भ्यः स्वाहा षड्भ्यः स्वाहा ऽष्टाभ्यः स्वाहा दशभ्यः स्वाहा  
द्वादशभ्यः स्वाहा चतुर्दशभ्यः स्वाहा षोडशभ्यः स्वाहा ऽष्टादशभ्यः स्वाहा विंशत्यै  
स्वाहा ऽष्टानवत्यै स्वाहा शताय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ॥

त्रिभ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः स्वाहा सप्तभ्यः स्वाहा नवभ्यः स्वाहैकादशभ्यः स्वाहा  
त्रयोदशभ्यः स्वाहा पञ्चदशभ्यः स्वाहा सप्तदशभ्यः स्वाहैकान्न विंशत्यै स्वाहा  
नवविंशत्यै स्वाहैकान्न चत्वारिंशते स्वाहा नवचत्वारिंशते स्वाहैकान्न षष्ट्यै

स्वाहा नवषष्ट्यै स्वाहैकान्नाशीत्यै स्वाहा नवशीत्यै स्वाहैकान्न शताय स्वाहा  
शताय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ॥

चतुर्भ्यः स्वाहा ऽष्टाभ्यः स्वाहा द्वादशभ्यः स्वाहा षोडशभ्यः स्वाहा विंशत्यै स्वाहा  
षण्णवत्यै स्वाहा शताय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ॥

पञ्चभ्यः स्वाहा दशभ्यः स्वाहा पञ्चदशभ्यः स्वाहा विंशत्यै स्वाहा पञ्चनवत्यै  
स्वाहा शताय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ॥

दशभ्यः स्वाहा विंशत्यै स्वाहा त्रिंशत्यै स्वाहा चत्वारिंशते स्वाहा पञ्चाशते  
स्वाहा षष्ट्यै स्वाहा सप्त्यै स्वाहाऽशीत्यै स्वाहा नवत्यै स्वाहा शताय स्वाहा  
सर्वस्मै स्वाहा ॥

विंशत्यै स्वाहा चत्वारिंशत्यै स्वाहा षष्ट्यै स्वाहा ऽशीत्यै स्वाहा शताय स्वाहा  
सर्वस्मै स्वाहा ॥

पञ्चाशते स्वाहा शताय स्वाहा द्वाभ्यां शताभ्यां स्वाहा त्रिभ्यः शतेभ्यः चतुर्भ्यः  
शतेभ्यः स्वाहा पञ्चभ्यः शतेभ्यः स्वाहा षड्भ्यः शतेभ्यः स्वाहा सप्तभ्यः शतेभ्यः  
स्वाहा ऽष्टा भ्यः शतेभ्यः स्वाहा नवभ्यः शतेभ्यः स्वाहा सहस्राय स्वाहा सर्वस्मै  
स्वाहा ॥

शताय स्वाहा सहस्राय स्वाहा ऽयुताय स्वाहा नियुताय स्वाहा प्रयुताय स्वाहा  
ऽर्बुदाय स्वाहा न्युर्बुदाय स्वाहा समुद्राय स्वाहा मध्याय स्वाहा ऽन्ताय स्वाहा  
परार्धाय स्वाहोषसे स्वाहा व्युष्ट्यै स्वाहोदेष्यते स्वाहोद्यते स्वाहोदिताय स्वाहा  
सुवर्गाय स्वाहा लोकाय स्वाहा सर्वस्मै स्वाहा ॥<sup>190</sup>

वैदिक वाङ्मय के विस्तृत ज्ञान की परिधि में भौतिक विज्ञान से सम्बद्ध मानकों का भी वर्णन प्राप्त होता है जो भार तथा माप पर आधारित है। मनुस्मृति में भार को मापने के लिए वर्णन प्राप्त होता है—

लोकसंव्यवहारार्थ याः संज्ञाः प्रथिता भुवि ।  
ताम्ररूपसुवर्णानां ताः प्रवक्ष्याम्यशेषतः ॥131 ॥  
जालान्तरगते भानौ यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः ।  
प्रथम तत्प्रमाणानां त्रसरेणं प्रचक्षते ॥132 ॥  
त्रसरेणवोऽष्टौ विज्ञेया लिक्षैका परिमाणतः ।  
ता राजसर्षपस्तिन्नस्ते त्रयो गौरसर्षपः ॥133 ॥  
सर्षपाः षट् यवो मध्यस्त्रियवं त्वेककृष्णलम् ।  
पञ्चकृष्णलको माषस्ते सुवर्णस्तु षोडश ॥134 ॥  
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पलानि धरणं दश ।  
द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः ॥135 ॥  
ते षोडश स्याद्धरणं पुराणश्चैव राजतः ।  
कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिकः कार्षिकः पणः ॥136 ॥  
धरणानि दश ज्ञेयः शतमानस्तु राजतः ।  
चतुः सौवर्णिको निष्को विज्ञेयस्तु प्रमाणतः ॥137 ॥  
पणानां द्वे शते सार्धे प्रथमः साहसः स्मृतः ।  
मध्यमः पञ्च विज्ञेयः सहस्रं त्वेव चोत्तमः ॥138 ॥<sup>191</sup>

---

<sup>191</sup> मनु, 8.131-138



प्राचीन भारतीय ज्योतिषशास्त्र भी समय की गणना पर पूर्णतः आधारित हैं, युग कल्प, संवत्सर, वर्ष, मास, दिवस, घण्टा, प्रहर, घड़ी, पल, लव, निमेष, क्षण, निमिष इत्यादि समय के मानकों का वर्णन प्राप्त होता है। अथर्ववेद में भी वर्णित है कि परब्रह्म ईश्वर का ही नाम काल अथवा समय है—

कालः प्रजा असृजत कालो अग्रे प्रजापतिम् ।

स्वयम्भूः कश्यपः कालात्तपः कालादजायत ॥<sup>192</sup>

श्री मद्भागवत में भी समय की अति सूक्ष्म इकाई का वर्णन प्राप्त होता है।

स कालः परमाणुर्वै यो भुङ्क्ते परमाणुताम् ।

सतोऽविशेष भुङ्ग्यस्तु स कालः परमो महान् ॥<sup>193</sup>

समय सतत् प्रवाहमान है। इसमें कभी स्थिरता नहीं आती और यही वेदों में सर्वत्र शिक्षा दी गई है कि जो समय बीत गया वह पुनः लौट कर नहीं आता। अतः समय का सदुपयोग व प्रतिक्षण सद्कार्यों को करते रहना चाहिये।

वैदिक वाङ्मय में रसायनशास्त्र से सम्बद्ध भौतिक वस्तुओं की परिवर्तनशील अवस्थाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। ठोस, द्रव्य तथा गैसों में होने वाले परिवर्तनों से तत्कालीन ऋषि भलीभाँति परिचित थे—

तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशस्संभूतः ।

आकाशाद्वायुः । वायोरग्नि । अग्नेरापः ।

अद्भ्यः पृथिवी ।<sup>194</sup>

---

<sup>192</sup> अथर्व वेद 1.2.26

<sup>193</sup> श्रीमद्भागवत् 3.11.4

<sup>194</sup> तैत्ति. उप. 3.1

वैज्ञानिक पृथ्वी की उत्पत्ति के विषय में पता लगाने के लिए अद्यपर्यन्त प्रयासशील हैं किन्तु वैदिक वाङ्मय में पृथ्वी की उत्पत्ति, गुरुत्वाकर्षणशक्ति आदि के विषय में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है—

सवितुश्च यदान्यथाऽन्यथा प्रतिदेशं सकलं समीक्ष्यते ।

न च कुत्रचिदित्यवेत्य कः कुरुते राहुकृते ग्रहे ग्रहम् ।<sup>195</sup>

अर्थात् भिन्न स्थानों पर रहने वाले पृथ्वी वासी सूर्य को अथवा सूर्यग्रहण को भिन्न रूपों में देखते हैं तथा कहीं यह नहीं देखा जा सकता है। अतः यह स्पष्ट है कि सूर्यग्रहण के परोक्ष में राहु कारण नहीं है।

वैदिक ऋषि पृथ्वी व चन्द्रमा की गति तथा सूर्य से उसके सम्बन्ध को भी जानते थे।

वैदिककालीन ब्रह्मज ऋषि भिन्न प्रकार की धातुओं के विषय में भी विस्तृत ज्ञान रखते थे। धातुशास्त्र के अन्तर्गत भिन्न धातुएँ उनकी परिष्कृत अवस्था उनके वर्ण इत्यादि के विषय में यत्रतत्र उल्लेख प्राप्त होता है—

श्याममय अस्य मांसानि लोहितमस्य लोहितं ।

त्रपु भस्म हरितं वर्णः पुष्करमस्य गन्धः ।<sup>196</sup>

उपर्युक्त स्रोत में परब्रह्म के वर्ण को भिन्न धातुओं के वर्ण के अनुसार वर्णित किया गया है। छान्दोग्य उपनिषद् में भी वर्णित है—

तद्यथा लवणेन सुवर्णं संदध्यात्सुवर्णेन

रजतं रजतेन त्रपु त्रपुणा सीसं सीसेन लोहं

लोहेण दारु दारु चर्मणा ॥<sup>197</sup>

<sup>195</sup> ऋग्वेद 5.40

<sup>196</sup> अथर्व वेद 11.8.7-8

<sup>197</sup> छा. उप. 6.15

प्राणी विज्ञान अथवा अतिसूक्ष्म जीवों (Micro Biology) के विषय में भी वैदिक वाङ्मय में वर्णन प्राप्त है। अतिसूक्ष्म जीवाणुओं के विषय में ज्ञान होने से व्यक्ति के उपचार में भी सहायता प्राप्त होती है—

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम्।

शृणाम्यस्य पृष्ठीरपि वृश्चामि यच्छिरः॥<sup>198</sup>

एक अन्य स्थान पर उपनिषद् में भी बाल की नोक को भी अनेक भागों में विभाजित कर उसके भी सहस्रों भाग कर दिए जाएं ऐसे भी सूक्ष्म जीव अस्तित्व में है—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च

भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते॥

मानव शरीर में सूक्ष्म कोशिकाओं एवम् उनके विभाजन की प्रक्रिया का भी ज्ञान वैदिक ऋषियों को था—

तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय।<sup>199</sup>

सभी प्रकार के ज्ञान विज्ञान मनुष्य के मस्तिष्क में ही पुष्पित, पल्लवित होते हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की संचालन व संहार का हेतु मस्तिष्क से उत्पन्न विचारों के प्रभाव पर निर्भर है—

मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते।

मनसा जातानि जीवन्ति।

मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति।<sup>200</sup>

कम्प्यूटर आधुनिक युग का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण व उपयोगी आविष्कार माना जाता है किन्तु वैदिक वाङ्मय में इसके भी विचार प्राप्त होते हैं—

---

<sup>198</sup> अथर्व वेद 2.32.2

<sup>199</sup> छा. उप. 6.2-3

<sup>200</sup> तै. उप. 3.4

"Sri Vishnu Sahastranama Stot an important part of Mahabharata (that is reverentially called as fifth Veda) was selected and a serious investigation was conducted with regard to the additional meanings of all the 1000 words with a scientific approach. Surprisingly the process resulted in finding several divine words reflecting the fundamental concepts of both computer hardware and software. Similarly mimamsa sastra was also found to reflect several concepts of computer compiler systems."<sup>201</sup>

वैदिक वाङ्मय में मानवता के कल्याणार्थ यज्ञों का विधान है। यज्ञ विधि चिति निर्माण प्रक्रिया सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। चितिनिर्माण प्रक्रिया ज्यामितीय ज्ञान का परिष्कृत स्वरूप है। शुल्ब सूत्रों में इसका विस्तृत वर्णन है—

मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् अपि वा पञ्चदश भागान्  
कृत्वा भाग मे कोनत्रिं शधाविभज्याष्टा विंशति  
भागानुद्धरेद् भागस्यच षष्ठमष्टमभागोनम्  
मण्डलं चतुरस्रं चिकीर्षन् अपि वा पञ्चदश भागान्  
कृत्वा द्वावुद्धरेत् सैषाऽनित्या चतुरस्रकरणी।<sup>202</sup>  
व्यायाममात्री भवतीति गार्हपत्यचितेर्विज्ञायते।  
चतुरश्रेत्येकेषां परिमण्डलेत्येकेषाम्।<sup>203</sup>

विविध प्रकार की याज्ञिक क्रियाएँ सम्पन्न कराने हेतु भिन्न आकार-प्रकार की चिति निर्माण का प्रावधान था। चतुर्भुज, आयताकार, वृत्ताकार, अर्धवृत्ताकार, त्रिकोणाकार इत्यादि।

<sup>201</sup> Science and Technology in Vedas and Sastras by Dr. RVSS Avadhanulu P.272

<sup>202</sup> बौ.शु.सू.1.59.60

<sup>203</sup> का.शु.सू.2.61-63

आधुनिक गणितीय सिद्धान्तों में प्रमेय इत्यादि पाश्चात्य वैज्ञानिकों की खोज माने जाते हैं किन्तु अब प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि भारतीय प्राचीन ज्ञान प्रबन्धन में इन सभी का प्रयोग हजारों वर्ष पूर्व ही हो चुका था।

इस प्रकार हम यह निःसंकोच कर सकते हैं कि विश्व में उपलब्ध समस्त ज्ञान विज्ञानों का बीजरूप वैदिक काल में ही प्राप्त हो जाता है। वैदिक वाङ्मय के अनुसार ज्ञान सम्पन्न मनुष्य ही ईश्वर के समान हो जाता है।

वैदिक वाङ्मय में ज्ञान विज्ञान के वे सभी अपेक्षित तत्व विद्यमान हैं, अपने विचारों तथा आचरण द्वारा व्यक्ति सम्पूर्ण मानवजाति का कल्याण कर सकता है।

वैदिककालीन शिक्षण प्रबन्धन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि आज से हजारों वर्ष पूर्व भी स्त्रियाँ शिक्षा के अधिकार से वंचित न थी। स्त्रियों को शिक्षा के पर्याप्त अवसर प्राप्त थे। ब्रह्मचर्यधर्म अपनाकर ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के लिए स्त्रियाँ पूर्ण रूप से स्वतन्त्र थीं। वैदिक काल में धार्मिक व पारिवारिक मामलों में महिलाएँ निर्णायक शक्ति के रूप में आध्यात्मिक एवम् चरित्र निर्माण के लिए अग्रणी भूमिका का निर्वाह करती थीं।

वैदिक काल में लोग विदूषी पुत्री की कामना से भी यज्ञ करते थे—

गार्गी, शचि, शाश्वती, मैत्रेयी, अपला, घोषा, अदिति इत्यादि अनेकों ऋषिकाएँ वैदिक ऋचाओं की सूक्तकत्री रहीं जिन्हें ब्रह्मज्ञान की प्रवक्ता एवम् व्याख्याकत्री के रूप में “ब्रह्मवादिनी” कहकर भी सम्बोधित किया गया है।

**अदिति**

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्ययो।

उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे।।

ब्रह्मेणस्पतिरेता सं कर्मारद्याधमत्।

देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत ॥

देवानां युगे पृथमेऽसतः सदजायत ।

तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपदस्वरि ॥

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशो अजायन्त ।

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षद्विदितिः परि ॥

अदितिर्हर्यं जनिष्ट दक्ष या दुहिता तव ।

तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृतबन्धवः ॥<sup>204</sup>

### अपाला

कन्या र वारजापती सोममपि स्रुताविदत् ।

अस्तं भेरन्त्य ब्रवीदिन्द्रोय सुनवे त्वा शक्राय सुनवे त्वा ॥

असौ य एषि वीरको गुहंगृहं विचाकेरात् ।

इमं जम्भसुतं पिब धानावन्त करम्भिणमपूपवन्त मुक्थिनम् ॥

आ चन त्वा चिकित्सामोऽधि चन त्वा नेमति ।

शनैरिव शनकैरिवेन्द्रोयैन्द्रो परि स्रव ॥

कुविच्छकत्कुवित्करेत्कुवित्रो वंस्येसस्करत् ।

कुवित्पतिद्विषो युतीरिन्द्रेण संगमामहे ॥<sup>205</sup>

### घोषा

यो वां परिज्मा सुवृदश्चिना रथो दोषामृषासो हव्यो हविष्मता ।

शरवत्तमासस्तमु वामिदं वयं पितुर्न नाम सुहवं हवामहे ॥

चोदयतं सूनुताः पिन्वतं धिय उत्पुरंधरीरयतं तदुश्मसि ।

<sup>204</sup> ऋग्वेद, 10.72.1-5

<sup>205</sup> वही, 8.11.1-4

यशसं भागं कृणुतं नो अश्विना सोमं न चारु मधवस्तु नस्कृतम ॥

अमाजुरेश्चिद्भवधो युवं भगोऽनाशोश्चिदवितारापमस्ये चित् ।

अन्धस्य चिन्नासत्या कृशस्ये विद्युवामिदोहुर्भिषजा स्तस्य चितु ॥

युवं च्यवानं सुनयं यथा रथं पुनर्युवानं चरथोय तक्षथुः ।

निष्टोत्रयमूहथुरदभयस्परि विश्वेत्ता वां सवनेषु प्रवाच्यो ॥<sup>206</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज में स्त्रियों के प्रति दृष्टिकोण में जो परिवर्तन आया है उसका मुख्य कारण पाश्चात्य आक्रमणकारी भी है, जिन्होंने हमारी मातृभूमि पर भौगोलिक व संस्कृति उभयदृष्टियों से प्रहार किया तथा साथ ही साथ हमारे सांस्कृतिक मूल्यों एवम् वैदिक आदर्शों का हास ही है।

इस आधार पर हमें यह स्वीकारना होगा कि पुरातन मूल्यों एवम् आदर्शों को पुनः स्थापित करने हेतु उच्च शिक्षा एवम् मार्गदर्शन प्रदान करना होगा।

वैदिक वाङ्मय द्वारा प्रदत्त शिक्षा मानव मूल्यों पर आधारित थी, पवित्र आचरण, नैतिकता, सच्चरित्रता एवम् उच्च विचारों पर आधारित शिक्षा को ही सर्वोपरि माना गया है। प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात भी सद्गुणों के विकास को सर्वोच्च ज्ञान के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् में भी सदाचार, कर्तव्यपरायणता, आतिथ्य भावना, मधुर सम्भाषण, इन्द्रिय निग्रह, आत्मकल्याण से युक्त शिक्षा को भी सर्वोपरि माना गया है।

वर्तमान समय में मूल्यों पर आधारित शिक्षा मात्र पुस्तकों में ही सिमटकर रह गई है और शिक्षा के क्षेत्र में हो रहे पतन के परिष्कार हेतु वैदिक शिक्षा प्रबन्धन की ओर दृष्टिपात करना व उसे व्यवस्था में समाहित करना अनिवार्य है।

## कला प्रबन्धन

---

<sup>206</sup> ऋग्वेद, 10.39.1-4

मानव मूल्यों को सौन्दर्याकृति प्रदान करना और उसे विभिन्न स्वरूपों में प्रस्तुत करना ही कला है। मनुष्य भावनात्मकता से परिपूर्ण प्राणी है और यह उपहार उस परब्रह्म परमेश्वर का ही आशीर्वाद है। भावों की सृजनात्मक अभिव्यक्ति ही कला है। कला कल्याणकारी व मंगलकारी है जो मानव हृदय के पवित्र व शाश्वत भावों को अभिव्यक्त करती है। ईश्वर की कलात्मक अभिव्यक्ति स्वरूप यह संसार सदैव मनुष्य को कुछ रचनात्मक करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

वेद भी ईश्वर की अप्रतीम कलाकृति है तथा वेदों में भी प्रायः सभी प्रकार की कलाओं का वर्णन प्राप्त होता है। वैदिक वाङ्मय में कलाकार को ऋभु की संज्ञा दी गई है—

### शन्नऋभवः सुकृतः सुहस्ताः

अर्थात् ऋभुओं के हाथ सुन्दर हैं, उनकी कृतियाँ व रचनाएँ सुन्दर हैं वे हमें सदैव शान्ति प्रदान करें। ऋभु शिल्पी है और सुन्दर कलाकृतियों के जन्मदाता हैं। जिस प्रकार सूर्य की किरणें अनेक प्रकार के पुष्पों को विकसित करती है, भूमि को हरित दूर्वा रूपी कोमल गद्दों से सुसज्जित कर देती है, खेतों को स्वर्ण पंक्तियों से मण्डित कर देती है, ठीक उसी प्रकार कलाकार अपनी कला द्वारा सुन्दर संसार का सृजन करता है।<sup>207</sup>

सभी प्रकार की कलाओं में प्रकृति व प्राकृतिक पदार्थों का ही अनुकरण होता है, जिसमें कलाकार की कल्पनाओं का भी सम्मिश्रण होता है। वेदों में वर्णित ललित कलाएँ विविध आयामी है जो प्रायः निम्न स्वरूपों में प्राप्त होती है—

- 1 सङ्गीत कला
- 2 स्थापत्य कला
- 3 चित्रकला
- 4 काव्यकला

---

<sup>207</sup> वैदिक संस्कृति और सभ्यता, डॉ. मुशी शर्मा, डॉ. कैलाशचन्द्र जैन, पृ 307



5 नृत्यकला

6 मूर्तिकला

वैदिक वाङ्मय काव्य का एक अनुपम उदाहरण है, जहाँ रचनात्मकता, मानवीकरण, तथ्यों की वैज्ञानिकता सभी का सम्मिश्रण है। वैदिक आर्य रथ निर्माण, तक्षणकार्य तथा धातुओं के द्वारा विभिन्न वस्तुओं के निर्माण की प्रक्रिया से भलीभाँति अवगत थे। पहने जाने वाले कलात्मक वस्त्र, गृहकार्य से सम्बद्ध वस्तुओं में कलात्मकता का समावेश करते थे। मोती, माणिक्यों का अलंकारिक उपयोग भी वैदिक आर्य जानते थे। भवन निर्माण कला में भी वे पारंगत थे। शारीरिक सौन्दर्य की वृद्धि हेतु कलात्मकता, अलंकारिक आभूषण तथा वस्त्रालंकारों का भी वर्णन प्राप्त होता है।

ऋग्वेद में नटराज का उल्लेख प्राप्त है—

**न हि अङ्गनृतो त्वदन्यं विन्दामि राधसे।<sup>208</sup>**

गायन, वादन और नृत्य तीनों प्रकार की कलाओं का समावेश ही सङ्गीत के रूप में प्रतिष्ठित है। नृत्य कला वाद्य का अनुगमन करती है तथा वाद्य गीत का इस प्रकार यह तीनों ही कलाएँ परस्पर पूरक हैं। सङ्गीत कला द्वारा आत्म-संतुष्टि के साथ ही पारलौकिक संतुष्टि भी प्राप्त होती है।

यज्ञ के अन्तर्गत सामगान से ही संगीत शास्त्र का प्रादुर्भाव माना गया है।

**ऋचांत्वः पोषमास्ते पुपुष्वान गायत्रंत्वो गायति शक्त्तरीषु।<sup>209</sup>**

ऋग्वेद में ही पक्षियों के मधुर कलरव को भी सामगान के उद्गाता के समान कहा गया है।

तैत्तिरीय संहिता में तो सामगायक की अनिवार्यता इस प्रकार वर्णित है—

**अयज्ञो वा एषः। योऽसामा।<sup>210</sup>**

---

<sup>208</sup> ऋग्वेद 8.24.12

<sup>209</sup> ऋग्वेद 10.71-11

<sup>210</sup> तै. उप. 2.5.8

वैदिक युग में विभिन्न प्रकार के वाद्यों का आविष्कार हो चुका था। काठकगृह्यसूत्र में विवाह संस्कार के अन्तर्गत विवाह से पूर्व सम्पादित माङ्गलिक कार्यों का वर्णन प्राप्त होता है। जहाँ स्त्रियाँ वधू को सजा संवारकर तैयार करती हैं तथा कन्या द्वारा विभिन्न वाद्यों का वादन करती हैं—

नाडीं तूणवं मृदङ्गापणवं सर्वाणि च वादित्राणि  
गन्धोदकेन समुपलिप्य कन्या प्रवादयते शुनं  
वददुन्दुभे सुप्रजास्त्वाय गोमुख प्रक्रीडयन्तु कन्याः  
समुनस्यमानाः सहेन्द्राण्या कृतमङ्गला इति ।<sup>211</sup>

विवाह प्रकरण की अग्रिम पंक्तियों में गायन—वादन की सङ्गत के तारतम्य में स्त्रियों के नृत्य का प्रसङ्ग अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

चतस्रोऽष्टौ वाविधवाः शाक पिण्डीभिः स्त्रियोऽन्नेन च ब्राह्मणान्भोजयित्वा  
वीणागायिभिः सह संगायेयुरपि व चतुरो नर्तनं कुर्याय क्रीडं वः शर्धो  
मारुतमनर्वाणं रथेशुभं कण्वा अभिप्रगायतेति ।<sup>212</sup>

अर्थात् विवाह के पूर्व चार अथवा आठ सधवा स्त्रियों को स्वादिष्ट भोजन कराने के उपरान्त वीणा के साथ गायन करना चाहिये और चार स्त्रियाँ नृत्य करें। ये चारों स्त्रियाँ नृत्य कर्म में प्रवीण तथा शीलादि गुणों से युक्त होना चाहिये। इसके विपरीत अपारंगत होने पर उनके साथ नृत्य नहीं करना चाहिये अन्यथा अमङ्गल की सम्भावना होती है।

श्रीमद्भागवत में भी वर्णित है कि भगवान श्रीकृष्ण भी नृत्यकला में निपुण थे—

कृत्वा तावन्तमात्मानं यावतीर्गोपयोषितः  
रेमे स भगवांस्ताभिरात्मारामोऽपि लीलया ।<sup>213</sup>

<sup>211</sup> का.गृ. 17.2

<sup>212</sup> का.गृ. 22.11

<sup>213</sup> श्रीमद्भागवत् 10.33.20

उपनिषद् काल में गायन—वादन तथा नृत्य मनोरञ्जन के प्रमुख माध्यमों में प्रमुख था। शुभावसरों पर सङ्गीत एक व्यवसाय के रूप में भी था।

अथाऽपसलवि त्रिः परियन्ति । सव्यानूरूपाऽऽघ्नाना 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं  
पुष्टिवर्द्धनम् । उर्वारुकमिवबन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतादि' त्याशीरेवैषैतस्य  
कर्मणऽआशिषमेवैतदाशासते तदु ह्येव शमिव यो  
मृत्योर्मुच्चयातैनाऽमृतात्तस्मादाह मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतादिति ।  
तदुहाऽपि कुमार्यः परीयुः । भगस्य भजामहाऽइति या ह वै सा रुद्रस्य  
स्वसऽम्बिका नाम साह वै भगस्येष्टे तस्मादु हाऽपि कुमार्यः परीयुर्भगस्य  
भजामहाऽइति ।  
तासामुताऽसां मन्त्रोऽस्ति । त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव  
बन्धनादितो मुक्षीय माऽमृत' इति सा यदितऽइत्याह ज्ञातिभ्यस्तदाह  
माऽमृतऽइति पतिभ्यस्तदाह पतयो ह्येव स्त्रियै प्रतिष्ठा तस्मादाह माऽमृतऽइति ।  
अथ पुनःप्रसलवि त्रि परियन्ति दक्षिणानूरूपाऽघ्नाना ऽएतेनैव मन्त्रेण तद्यत्पुनः  
प्रसलवि त्रिः परियन्तिप्रसलवि नऽइदं कर्माऽनुसन्तिष्ठाताऽइति  
तस्मात्पुनःप्रसलवि त्रिः परियन्ति ।<sup>214</sup>

“त्र्यम्बकेष्टिविधानः नृत्य” के सन्दर्भ में शतपथ ब्राह्मण में युवक युवतियों द्वारा नृत्य के विचार प्रस्फुटित हैं। उक्त मन्त्र का पाठ करते हुए वेदी के चहुँ ओर नृत्य करते हुए परिक्रमा करते हैं। उक्त मन्त्र द्वारा कुमारियाँ अपनी पैरों की थाप देते हुए श्रेष्ठ, अनामय, सुखी, समृद्ध, अविच्छिन्न दाम्पत्य सुख की अभिलाषा में ताल संयोजन, वर्तुलाकार नृत्य, जंघाओं की थाप से नृत्य व रुद्रगीत

<sup>214</sup> शत.ब्रा.2.6.2.12-15

के लिए नृत्य व पाठ विधान का वर्णन युवक-युवतियों द्वारा मनोकामना पूर्ति के लिए भक्ति भावना के साथ नृत्य का विधान है।

ऋग्वेद संहिता में संवाद सूक्तों का अपना विशिष्ट महत्व है। संवाद सूक्तों की परम्परा में पुरुरवा-उर्वशी संवाद सूक्त का प्राचीन भारतीय कला परम्परा से अद्यपर्यन्त कला जगत् में अपना विशिष्ट स्थान है।

**किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामाग्रियेव**

**पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि ।<sup>215</sup>**

उषा नर्तनशीला प्रकृति का वह स्वरूप है जो प्राणीमात्र में चेतना का सञ्चार करती है। उर्वशी उषा के समान स्वयं को निरूपित करती है।

**ऊर्ध्वनुद्रेऽवतं त ओजसा दाध्वाणं चिद्विभिदुर्वि पर्वतम् ।**

**धमन्तो वाणं मरुतः सुदानवो मदे सोमस्य रण्यानि चक्रिरे ।।<sup>216</sup>**

दानशील मरुत वीणा बजा-बजाकर तथा सोमपान से प्रसन्न होकर धन देते हैं। वैदिक वाङ्मय में कला की अन्य विधाओं में काव्य कला का भी वर्णन प्राप्त है, प्रकृति का मानवीकरण ऋषियों की काव्यात्मकता व कल्पनाशीलता का साक्षात् प्रमाण है।

**आवोचाम कवये मेध्याय वचो वन्दारू वृक्षभाय वृष्णे ।**

**गविष्ठिरो नमसा स्तोममग्नौ दिवीव रूक्म मुरुव्यञ्चमश्रेत ।।<sup>217</sup>**

अर्थात् पवित्र गुणों एवम् आचरणों से युक्त क्रन्तदर्शी, मेधावी, श्रेष्ठ कवि के लिए हमें वन्दना योग्य सम्मानपूर्ण वचनों का प्रयोग करना चाहिये।

इस प्रकार वैदिक वाङ्मय की असीम परिधियों में समस्त ज्ञान विज्ञान व कलाओं का वर्णन है जिनका पल्लवन अद्यपर्यन्त अनवरत है। वैदिक वाङ्मय में कलारूपों के सन्दर्भ यत्र-तत्र प्रार्थनाओं

<sup>215</sup> ऋग्वेद 10.95.2

<sup>216</sup> ऋग्वेद 1-85.10

<sup>217</sup> यजुर्वेद 15.15

में, उनसे अभिलाषित आशीर्वादों में, दार्शनिक चिन्तकों में, लौकिक सुख प्राप्ति के साधन रूप मनोरञ्जन में कहीं संकेतिक रूप में तो कभी परोक्ष भाव से दृष्टिगोचर हुए हैं।

### संस्कृति प्रबन्धन

संस्कृति किसी भी समाज का बौद्धिक पक्ष है। संस्कृति शब्द का शाब्दिक अर्थ है— शुद्धि, संस्कार, सुधार, किसी व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र आदि के वे समस्त तत्व जो उसके मन, रुचि, आचार—विचार, कला कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है। अंग्रेजी शब्द कोश के अनुसार भी संस्कृति के लिए 'Culture' शब्द का प्रयोग किया जाता है।

**“Culture—way of life, especially general customs and beliefs (arts and science) of a particular group of people at a particular time”**

संस्कृति किसी सभ्यता का वह तत्व है जो मनुष्य का परिष्कार तथा सर्वोत्तम के साथ संसर्ग स्थापित करवाता है। वैदिक संस्कृति को तत्कालीन आचार—व्यवहार, रीति रिवाज, पर्व—उत्सव, मेले, संस्कार, ज्ञान, विज्ञान, कला—कौशल इत्यादि के विषय में जान कर उसकी विशिष्टताओं तथा तत्कालीन आर्यों की बौद्धिक, शारीरिक, आध्यात्मिक परिपक्वता के माध्यम से समझा जा सकता है। व्यक्तिगत रूप से एक व्यक्ति संस्कृत तब होता है जब वह प्रकृति प्रदत्त समस्त दैवीय अंशों को विकसित कर धर्म, दर्शन, विज्ञान, काव्य इत्यादि समस्त क्षेत्रों में जीवन का परिमार्जन करे।

वैदिक संस्कृति एक आदर्श संस्कृति है जहाँ मंत्रदृष्टा ऋषियों द्वारा समस्त मानवजाति को शान्ति, निर्मलता, नारी सम्मान, जागरूकता कर्तव्य परायणता, शालीनता, सदाचार, धार्मिकता, ज्ञानार्जन, दान, सहिष्णुता, उदारता, संवेदनशीलता, निर्भयता, स्वाभिमान, राष्ट्र भक्ति, और इस प्रकार अनेकानेक सदुपदेशों द्वारा उपदेशित किया गया है। कर्तव्य परायण सुसंस्कृत व्यवहार के धनी लोगों को ही आर्य की संज्ञा दी गई है।

बाह्य भौतिक उपादानों एवम् कृत्रिमता में अभिवृद्धि, नित नवीन आविष्कार प्राकृतिक तत्वों के अत्यधिक दोहन के साथ साथ मनुष्य में मानवता की कमी व नैतिक मूल्यों का ह्रास होता जा रहा है और शनैः-शनैः सांस्कृतिक तत्वों में विच्छिन्नता आती जा रही है। शान्त सुरम्य पर्यावरण स्वस्थ शरीर तथा सकारात्मक चिन्तन ही संस्कृति को सुदृढ़ बनाता है। ऐसे वातावरण में ही कलाओं का पल्लवन होता है, साहित्य का सृजन तथा प्रगतिशील व कल्याणकारक विज्ञान का भी आविष्कार होता है।

किसी संस्कृति के एक निश्चित काल में रचित साहित्य उस संस्कृति का दर्पण होता है। साहित्य के द्वारा तत्-तत् संस्कृति के विकास, चिन्तन, संगठन जीवन मूल्य विषयक ज्ञान होता है। साहित्य मनुष्य को नैतिकता के मार्ग पर गमन करने की प्रेरणा प्रदान करता है। वैदिक ऋषियों द्वारा रचित महान कृतियाँ आज भी हमारे सम्मुख तत्कालीन संस्कृति की झाँकी यथावत् दृश्यमान कर देती हैं। वैदिक संस्कृति विश्ववरा अर्थात् सम्पूर्ण विश्व को अपने भीतर समाहित कर सकने की क्षमता रखती है। विश्व की सर्वाधिक प्राचीन संस्कृति के रूप में प्रतिष्ठित वैदिक संस्कृति अनेक कृतियों की उपजीव्य रही है, उसके आधार पर अद्यपर्यन्त साहित्य में अनेक श्रव्य काव्यों, महाकाव्यों, गद्यकाव्यों, कथासाहित्य तथा विभिन्न कलाओं का प्रणयन हुआ है।

विभिन्न कलाएँ भी उस संस्कृति का निदर्शन करती हैं। कलाएँ लोक तथा शास्त्रीय उभय प्रकारों की होती हैं। कलाएँ मनुष्य को तनाव से मुक्ति दिलाने में सहायक होती हैं और यही तनाव प्रबन्धन समाज को, समाज के चिन्तन को उचित मार्ग प्रदान करता है। वैदिक वाङ्मय सर्वत्र परब्रह्म के ही दर्शन करता है। प्रकृति के कण-कण में ईश्वर का निवास है अतः प्रत्येक वस्तु सुन्दर तथा वन्दनीय है।

स दर्शत श्री रतियि गृहे-गृहे वने वने शिश्रिये तक्ववीरिव<sup>218</sup>

---

<sup>218</sup> ऋग्वेद 10.91.2

भारतीय संस्कृति प्रबन्धन में प्रकृति अति महत्वपूर्ण अङ्ग है तथा वेद प्रकृति से इस प्रकार संयुक्त है कि प्रकृति से विछिन्न होने पर उनकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।

वैदिक संस्कृति की यह विशेषता है कि यहाँ वर्णित सूक्तों में संस्कृति के परिष्कारों हेतु वाणी मन व बुद्धि के विषय में गरिमापूर्ण तथा तथ्यपरक सूक्त दैदिप्यमान हैं।

भारतीय सांस्कृतिक प्रबन्धन में षोडश संस्कारों तथा यज्ञ विधानों का अत्यधिक महत्व है। यज्ञों के बिना प्राचीन संस्कृति का परिचय अधूरा सा है। यज्ञ आध्यात्मिक कल्याण के साथ-साथ पर्यावरण शुद्धिकरण के लिए भी उपयोगी है। यज्ञों में ब्रह्माण्ड में उपस्थित प्रायः सभी वस्तुओं के निमित्त आहुतियाँ प्रदान कर सभी के कल्याणार्थ प्रार्थना की जाती है।

भारतीय सांस्कृतिक संस्कारगत विधानों में व्यक्ति तथा उसके व्यक्तित्व का सर्वत्र परिमार्जन किया जाकर उसे ईश्वर के प्रति, परिवार के प्रति, स्वयं के प्रति, समाज के प्रति, राष्ट्र के प्रति तथा पर्यावरण के प्रति उसके कर्तव्यों का बोध कराया जाता है। संस्कारों के प्रभाव से ही मनुष्य उन्नति को प्राप्त करता है।

वैदिककालीन सांस्कृतिक प्रबन्धन के मूल में यही भावना दृष्टिगोचर होती है कि, संस्कारों द्वारा पोषित हो कर समाज एक आदर्श समाज के रूप में पल्लवित व पुष्पित हो।

